भावार्चन



भावार्चन

(सुश्री शारिकादेवी जीवन-चरित)

ग्रन्थकर्त्री :

प्रभादेवी

सम्पादक - डा० बलजिन्नाथ पण्डित।

प्रकाशिका

प्रभादेवी

ईश्वर-आश्रम, गुप्त गङ्गा, निशात बाग, श्रीनगर।

प्रकाशिका :

सुश्री प्रभादेवी
ईश्वर-आश्रम, निशात, श्रीनगर, कश्मीर

प्रकाशन तिथि :

श्री शारिका निर्वाण जयन्ती
फाल्गुण कृष्ण तृतीया
१४ फरवरी, १९९८

प्रथम संस्करण : १९९८ न्योछावर : ५१/-

मुद्रक :
मेहरचन्द लक्ष्मणदास
नई दिल्ली

प्राप्तिस्थान :

1. ईश्वर-आश्रम निशात, श्रीनगर, कश्मीर
2. ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट - २ महेन्द्र नगर, कनालरोड़, जम्मूतवी
3. ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट, दिल्ली कार्यालय, F-115, सरिता विहार, नई दिल्ली

सम्पादकीय

देवी स्वरूपा श्री शारिकाजी की इस जीवन गाथा को उनकी छोटी बहन श्री प्रभादेवी ने लिखा है। श्री प्रभाजी बीसों वर्ष श्री देवीजी के साथ रहती रहीं। प्राणी के जीवन में अनेकों प्रकार की अनुभूतियां होती रहती हैं। कुछ अनुभूतियां सुखद होती हैं और कुछ एक कभी कभी कटु भी लगती हैं; विशेषकर जब एक ही गुरुदेव की छत्रछाया में कई एक शिष्य जीवन निभाते रहते हों। जैसे किसी योग्य अध्यापक के छात्र एक दूसरे से आगे बढ़ने की लालसा से प्रेरित होते हुए एक दूसरे के प्रति छोटे मोटे षड्यन्त्र भी रचा करते हैं; वैसे ही एक आध्यात्मिक गुरुवर के अनुग्रहों के पात्र बने हुए शिष्यों में, विशेषतया शिष्याओं में, परस्पर स्पर्धा के भाव बहुत बार बाह्य व्यवहार में भी प्रकट होते ही रहते हैं। ऐसा होना एक प्रकार से स्वाभाविक ही होता है, क्योंकि सभी शिष्यजन एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहते हैं। फिर कई शिष्यजन वैराग्य और भक्तिभाव से ही गुरुसेवा में प्रवृत्त हुआ करते हैं, परन्तु बहुत बार ऐसा भी होता है कि सांसारिक जीवन में लगातार बनी रहती हुई कुण्ठाओं के कारण घरेलू जीवन से ऊबकर भी शिष्यजन गुरु चरणों की शरण में शान्तिलाभ के लिए आश्रय लिया करते हैं। ऐसी स्थिति हमारे वर्तमान समाज में अधिकतर महिलाओं की हुआ करती है। अतः ऐसी कुण्ठाग्रस्त शिष्याएं वस्तुतः योग्य शिष्याओं से प्रायः स्पर्धा किया करती हैं। बहुत बार वह स्पर्धा ईर्ष्या और द्वेष के रूपों को भी धारण किया करती है। कुछ ऐसी ऐसी स्पर्धाओं और ईर्ष्याओं के वातावरण में बीसों वर्ष रहती हुई भी श्री देवीजी की आध्यात्मिक साधना में, गुरुभक्ति में, गुरुसेवा में, तथा ऐसी स्पर्धालु महिलाओं के प्रति वास्तविक करुणा और सद्भावना के विचारों में कभी कोई स्थाई आघात नहीं पहुंचा। क्षणिक आघात तो आत्मदर्शी सिद्धयोगी को भी व्यावहारिक जीवन में होते ही रहते हैं। परन्तु उनका प्रभाव उनके अन्तस्तल पर पड़ने नहीं पाता है। जैसे मानव प्रतिदिन शरीर पर जमी हुई मलिनता को स्नान आदि के द्वारा धो डालता है, वैसे ही शिवमार्ग पर चलने वाला साधक इन क्षुद्र मनोभावों को अपने अन्तस्तल में जमने नहीं देता है। वह उन्हें अपने

दैनिक अभ्यास के प्रारम्भ में ही धो डालकर निर्मल चित्त से अभ्यास में लग जाता है। ऐसा ही कार्यक्रम श्री देवीजी की जीवनयात्रा में बहुधा चलता ही रहा और उन्होंने अपने तपोबल और वैराग्यबल से उन मनोवृत्तियों को अपने अन्तस्तल में स्थान बनाकर रहने का अवसर कभी दिया ही नहीं। सदैव अक्षुण्णभक्ति के भाव में रहती हुई, अहोरात्र भक्तिपूर्वक गुरुसेवा में लगी ही रहीं। यही उनकी अपूर्व तपस्या है, जिसका फल उन्होंने अपने मानवदेह को छोड़ते समय पूरी तरह प्राप्त किया। तदनुसार गुरुदेव ने उनके प्रति ऐसे आदर सत्कार का और स्नेह की भावनाओं का पूरा परिचय दिया जिन्हें सभी ने अपनी आंखों से देखा; उन शिष्याओं ने भी मूकभाव में रहते हुए उन भावनाओं के दृश्य को अपनी आंखों से देखा। अस्तु, मानवस्वभाव में अनन्त प्रकारका वैचित्र्य हुआ करता है, तभी तो संसाररूपी नाट्यलीला में वैचित्र्य का रस बना रहता है।

पूज्य श्री स्वामीजी के लिए उनके पिताजी ने एक भव्य भवन का निर्माण ईशबर गांव के ऊपरी स्तर पर कर दिया था। श्री देवीजी के पिताजी ने भी उनके लिए वहीं पर एक और भवन बना दिया था। गुरुदेव अपने भवन में रहते रहे और श्री देवीजी तथा श्री प्रभा जी भी उस नए भवन में रहती रहीं। प्रतिदिन श्री गुरुदेव के दर्शन, सम्भाषण, सेवा और उनसे शास्त्रों के अध्ययन का क्रम परिपूर्ण शान्ति से चलता रहा। श्री देवीजी के कथन के अनुसार वह समय उनके जीवन का स्वर्णमय समय था, यद्यपि वहां भी एक कुण्ठाग्रस्त महिला श्री गुरुदेव की शिष्या बनकर शान्तिभंग की योजनाओं को बनाती रही, परन्तु उस समय उसकी उन योजनाओं को सफलता नहीं मिली।

जैसा कि मुझे श्री स्वामीजी के एक निकटवर्ती भक्त शिष्य श्री जानकी नाथ लाबरू ने बताया है, कि श्री गुरुदेव के कई एक सम्बन्धी रविवार को और छुट्टियों के दिनों निशात, शालीमार आदि बागों के बदले श्री गुरुदेव के ईशबर वाले आश्रम में ही आया करते थे और रविवार के बीत जाने पर भी वापिस घर जाने में विलम्ब करते रहते थे। उस तरह से वहां शान्तिभङ्ग होता रहा। इस अड़चन को दूर करने के

लिए श्री गुरुदेव ने एक नई योजना बनाई। तदनुसार उन्होंने अपने उस भवन को बेच डाला और उनके आदेश से श्री देवीजी ने भी वैसा ही किया। तदनन्तर निशातबाग के समीप भूमि खरीद ली और वहां उतने ही परिमाण के भवन का निर्माण किया, जितना उन तीन महानुभावों के लिए पर्याप्त था। आने जाने वालों के लिए एक हाल को बनवाया, जहां रविवार को शिष्यगण आते रहते थे और ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिए श्री गुरुदेव से शैवदर्शन के कुछ एक ग्रन्थों को पढ़ते रहते थे। शेष छः दिनों लगातार शान्ति रहा करती थी। परन्तु वह शान्ति देर तक टिकी नहीं। शिष्यगण रविवार को छोड़कर अन्य वारों को भी आते रहने लगे। इस तरह से वहां सतत शान्ति का वातावरण बिगड़ने लगा। आगे वहां कोई संदिग्ध प्रयोजनों वाले पाश्चात्त्य लोग भी आने लगे और भक्तिभाव का बनावटी दिखावा करते हुए श्री गुरुदेव की कृपा के पात्र बनते गए। ऐसे लोगों ने आश्रम के वातावरण की कुछ बिगड़ी हुई अन्तःशान्ति पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। पूज्य श्रीगुरुदेव उनकी कूटनीति को तब समझ पाए जब वे स्वयं शिवलोक के प्रतिगमन के समुचित काल की प्रतीक्षा में थे। उन लोगों के कारण श्री देवीजी की शान्ति में बहुधा भङ्ग होता रहा, फिर भी उन्होंने उस बात के विषय में कोई कड़ा विरोध नहीं किया केवल उस समय अपने विचार प्रकट किए थे जिस समय वे आश्रम में घुस जाने की नीति को चलाते रहे थे। श्री देवीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि ये लोग विश्वासपात्र नहीं है और इनके कारण आश्रम की शान्ति में बाधा पड़ेगी। परन्तु श्री गुरुदेव को बहुत शौक था कि शैवशास्त्र की विद्या विदेशों में भी फैल जाए, अतः उन्होंने श्री देवीजी के सत्परामर्श की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस तरह से श्री देवीजी सब कुछ चुपचाप सहन करती रहीं और उन्होंने अपनी दैनिक साधना पर किसी आंच को आने नहीं दिया; फिर साथ ही अपनी गुरुभक्ति में और गुरुसेवा में किसी भी त्रुटि को नहीं आने दिया। फिर इस आतङ्क को अन्य सदस्यों या स्वजनों के सामने भी कभी प्रकट नहीं किया। मेरे सामने एक बार केवल इतना ही कहा था कि जिस शान्ति का आस्वाद उन्हें अपने ईशबर वाले निजी भवन में आता रहता था, वह उस नए आश्रम में लुप्त होता गया। साथ यह भी कहा था कि

श्री गुरुदेव के चरणों की सेवा में रहने के व्रत को वह कभी छोड़ नहीं सकेंगी, चाहे कोई भी आपदा आश्रम में उपस्थित क्यों न हो ?

इस तरह से अनेकों कठिनाईयों को सहर्ष स्वीकार करती हुई श्री देवीजी आजीवन गुरुसेवा में सहर्ष और सावधान बनकर टिकी ही रहीं और उस साधना का पूरा फल उन्होंने देहत्याग के समय जो पाया, उसको सभी सज्जनों ने स्वयं अपनी आंखों से देखा। श्री गुरुदेव जी ने कैसी श्रद्धा, कैसे स्नेह और कैसी सावधानता से उनकी और्ध्वदैहिक क्रियाएं शैवशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार स्वयं अपनी पूरी देखरेख में अक्षुण्ण दिलचस्पी से विधिपूर्वक करवाने का सुप्रबन्ध किया। जिस स्थान पर वह क्रियाएं करवाई गईं उस स्थान को उन्होंने तपोभूमि बता दिया और यह इच्छा भी प्रकट की कि उस भूभाग को तपःस्थली बना दिया जाए और किसी प्रकार का खेती का काम वहां नहीं किया जाना चाहिए। श्री स्वामीजी ने ऐसे आदेशमय वाक्य मेरे सामने सभी को कह दिए। उनके ऐसे निर्देशों और व्यवहारों से यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है कि श्री गुरुदेव जी के अन्तस्तल में श्री देवीजी के प्रति कैसे उत्कृष्ट भाव विद्यमान थे। नई नई शिष्याओं के द्वारा देवीजी को क्लेश पहुंचाने के जो भी यत्न पीछे होते रहे, वे सब के सब उनके प्रयाण के समय इस तरह से निष्फल होकर धुल गए कि उनकी स्मृति भी सर्वथा विलीन होती गई।

सिद्धगुरुओं और सच्चे साधकों के बाह्यव्यवहार जनता की समझ से बाहिर की वस्तुएं हुआ करती हैं। उन महानुभावों के अन्तस्तल को पहचान लेना साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहिर की वंस्तु होती है। सिद्धजन ही सिद्धजन के अन्तस्तल को पहचान सकते हैं। इस सिद्धान्त को श्री देवीजी पूरी तरह से समझती थीं, अतः उन्होंने कभी भी ऐसी बातों के विषय में कोई शिकायत नहीं की। जैसा निर्णय गुरुदेव लेते रहे वैसे निर्णय को उन्होंने सदा स्वीकार किया। हां, यदि श्री गुरुदेव कभी उनसे किसी बात के विषय में पूछ लेते, तो देवीजी सत्यबात को स्पष्ट शब्दों में कहा करती रहीं। उन्होंने कभी भी सत्य को नहीं छिपाया। श्री गुरुदेव उनकी सत्य बात को स्वीकार करते या नहीं भी करते, परन्तु श्री देवीजी सदैव सत्य परामर्श देती रहीं, विशेषकर उन लोगों के विषय

में जिनके अन्तस्तल में वैराग्य नहीं होता था, और जो कुण्ठाओं से ग्रस्त रहा करते थे और उसी रोग की चिकित्सा के लिए श्री गुरुदेव की शरण में आया करते थे। वैराग्य और तत्त्वजिज्ञासा के भावों को लेकर के नहीं। ऐसे-ऐसे शिष्यों और शिष्याओं के विषय में श्री देवीजी अपने सत्यविचारों को श्री गुरुदेव के सामने स्पष्ट शब्दों में कह दिया करती थीं। श्री गुरुदेव भी उन बातों को समझते तो अवश्य रहे, परन्तु उनके हृदय में उमड़ते हुए करुणा के भाव के प्रभाव से वे श्रीदेवीजी के सत्-परामर्श की ओर बहुत बार ध्यान नहीं दिया करते थे। ऐसी स्थिति में करुणा का भाव विवेक के विचारों को दबाकर रखता था।

ऐसी घटनाओं का अति-स्वल्प आरम्भ तभी से होने लगा था, जब पूज्यपाद जी और श्री देवीजी दोनों ही अपने अपने भवनों में ईशबर में रहा करते थे। फिर निशात बाग वाले आश्रम में ऐसे भाव लगातार बढ़ते ही गए और पाश्चात्त्य शिष्यजनों के प्रवेश ने आश्रम को ऐसे भावों से बुरी तरह घेर ही लिया। इन बातों का श्री गुरुदेवजी को भी अन्ततोगत्वा अनुभव तो हो गया, परन्तु जो अशान्ति उस शान्त आश्रम में आनी थी, वह तो आ चुकी थी और काफी बढ़ गई थी। फिर उनका शिवलोकगमन का समय भी समीप आ रहा था। ऐसी घटनाएं परमेश्वर परमशिव के लीलाविलास से होती ही रहती हैं। यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर की पारमेश्वरी नाट्यलीला का ही एक दृश्य है। नाट्यकला के अभिनय में यदि भावों की विचित्रता और पात्रों के चरित्रों की विचित्रता न आने पाए, तो नाट्यकला सफलता को प्राप्त नहीं करती है। ऐसी विचित्रता परमेश्वर के इस अनन्त स्वरूपों वाले ब्रह्माण्ड के लीलामय नाटक में सर्वत्र देखने में आती है। तभी तो यह पारमेश्वरी नाट्य-लीला सदैव सुन्दर और इतनी रुचिकर बनी रहती है, कि एक एक प्राणी इसमें पूरी दिलचस्पी से अभिनय के अपने अपने भाग को निभाया करता है। फिर गुरु शिष्य परम्पराओं में भी इस पारमेश्वरी नाट्यलीला का अनन्त प्रकार का वैचित्र्य प्रकट होता ही रहता है। उस वैचित्र्य का अभिनय बड़े बड़े सिद्ध गुरु भी किया ही करते हैं। स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने भी इस नाटयकलात्मक अभिनय को कैसे कैसे करके दिखाया, यह महाभारत जैसे ग्रन्थों से स्पष्ट होता है।

श्री देवीजी के इस जीवन चरित को उनकी प्यारी बहन श्री प्रभादेवी ने लिखकर मुझे परिमार्जन, सम्पादन आदि के लिए दे दिया। उनके प्रति मेरे मन में बड़े ही आदर और स्नेह के भाव विद्यमान हैं। फिर श्री देवीजी के प्रति मेरे हृदय में जो श्रद्धा के भाव हैं उन्हें मैं शब्दों से पूरी तरह जतला नहीं सकता हूं। मैं केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूं कि उनकी शान्त और सौम्य मुखमुद्रा के दर्शन के समय मेरे स्मृति पटल पर उनके परमगुरु श्री महताबजू की सौम्य, शान्त और निश्चिन्त शरीरमुद्रा का स्मरण आता रहता था। जब मैं एक छात्र था और जम्मू में पढ़ता था, तब शीतकाल में स्वामी महताबजू कभी पं० शिवजी ठुस्सू जी के या कभी प्रो० श्री रामचन्द्र पण्डित जी के घर में ठहरा करते थे, तो मुझे भी कभी कभी उनके दर्शनमात्र का सौभाग्य प्राप्त होता था। उस दर्शन मात्र से अन्तस्तल में एक अपूर्व शान्ति चमक उठती थी। वैसी ही स्थिति मुझे हर उस बार हुआ करती रही, जिस बार मुझे देवी श्री शारिकाजी के दर्शन का सौभाग्य उदित होता रहा।

देवीजी के सांसारिक जीवन के विषय में कई एक बातें सुन रखी थीं। परन्तु उनके जीवन चरित का पूरा परिचय मुझे कभी मिला नहीं था। श्री प्रभादेवीजी तो जीवन भर श्री देवीजी के साथ रहीं। अतः उनके जीवन की प्रत्येक घटना को पूरी तरह से जानती हैं। उन्होंने ही देवीजी के इस जीवन चरित को लिखकर मुझे दे दिया। मैंने इस ग्रन्थ की भाषा को कहीं कहीं सुधार लिया शेष घटनाओं की भाषा को भी सुपाच्य बनाकर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया। मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन शीघ्र ही हो जाए। इसके प्रकाशन से अध्यात्मपथ पर चलने वालों का पर्याप्त पथप्रदर्शन हो सकता है।

जय श्री देवी शारिकाजी।।

डा० बलजिन्नाथ पण्डित

दो शब्द

प्रायः देखा जाता है, जितनी भी पुस्तकें लिखी जाती हैं, वे सभी भगवत्-प्रेरणा से ही लिखी जाती हैं। मानव उस संवित्-शक्ति से प्रेरित होकर ही पुस्तक का निर्माण करता है। लेखक तो केवल हेतु-मात्र होता है।

ई० सन् १९९१ के प्रारम्भ में ही सुश्री शारिका देवीजी के महाप्रयाण करने पर जब गुरुदेव मनस्वी शिष्या के बिना हतोत्साह से हो गये तो उन्होंने अमरीका जाना ही युक्त समझा। आश्रम में कुछ दिन रहकर अमरीका की ओर प्रस्थान किया। पर मुझे आश्रम में ही रहने की आज्ञा दी। मैं दोनों महान् विभूतियों से वंचित होकर आश्रम में ही रही। असारता, नश्वरता तथा समय का एकवत् न रहना ऐसे भाव मेरे सम्मुख चल-चित्र की भांति साकार रूप में दिखाई देने लगे। जिन व्यक्तियों के साथ आजीवन पल्ला नहीं पड़ा था, उन्हीं के साथ रहना पड़ा। संसारियों के दांव-पेच भला हम कहां जानते थे। अहर्निश वीत-राग, स्वात्मानुसंधान परायण परमहंसों के साथ रहने से संसार तो एक रूप में समाप्त सा हो गया था। गुरुदेव के अमरीका जाने से मन विह्वल हो गया। मनदेव विचारने लगे—सत्य ही किसी ने पत्ते की उक्ति कही है—

"प्रेमैव मास्तु, यदि चेत् पथिकेन नैव,
तेनापि चेत् गुणवता न समम् कदापि"—

सो ज्ञानवान् तो सदा अन्तर्मुख ही रहते हैं। उन्हें राग व त्याग में कोई अन्तर नहीं होता। इस कथन की पुष्टि हमें तब हुई जब गुरुदेव अपने आश्रम को तिनके की भांति छोड़कर दिल्ली चले गए। मेरे मन में रह रहकर विचार आने लगा कि 'स्थितप्रज्ञ' स्थिति पर आरूढ़ बने हुए गुरुदेव जो कर रहे हैं, अपनी स्थिति का प्रदर्शन कर रहे हैं, इसमें व्याकुलता की बात ही क्या है। तब प्रभु की सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने देवीजी की जीवनी को लिखना आरम्भ किया। देवीजी को

परमार्थ-मार्ग पर चलते चलते, अनेकानेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा, इससे प्रायः सभी शिष्यवर्ग भलीभांति परिचित हैं। १९९१ की समस्या ही ऐसी थी कि सभी सत्य बातें लेखनी ने लिखकर रख दीं। पुस्तक सम्पूर्ण हो गई। इसी वर्ष गुरुदेव भी महाप्रयाण कर गये। मैं जम्मू गई तो मैंने आदरणीय डा० बलजिन्नाथ जी को यह पुस्तक दिखाई। उन्होंने लगन से इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा, इस में भाषा का निखार लाया, शैवी सिद्धान्तों का निर्णय अनुरणन ध्वनि के रूप में किया और सत्य घटनाओं को खोल कर रख दिया। विद्वान् का मस्तिष्क एक्सरेयन्त्र की भांति होता है, उन्हें कहने की आवश्यकता नही पड़ती। वह एक क्षण में ही सभी व्यवहार भांप लेते हैं। उनका अन्तःकरण अथाह विद्योपार्जन से निर्मल बना होता है। वह किसी की भी परवाह न करके सत्य घटनाओं को लिख ही देते हैं। इस में उनका तनिक भी दोष नहीं होता, वह तो यन्त्रवत् भगवत् प्रेरणा से ही सत्य लिखने में विवश होते हैं। इधर धुरंधर विद्वानों के विपरीत स्थितप्रज्ञों का स्वभाव होता है। वे नीर-क्षीर विवेकी होने पर भी इच्छा शक्ति के अनुकूल ही प्रायः व्यवहार करते हैं। सदाचारी, कपटी, दुराचारी, सत्यप्रतिज्ञ व्यक्तियों के गुणों या अवगुणों को न देखकर अपनी अनुकंपा के वशीभूत होकर ही वे शरणागत भक्तों पर दया करते हुए देखे गये हैं। श्री गीता जी में भी भगवान् कहते हैं–**"अपि चेत्सु दुराचारो भजते न्मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥"** इसी सिद्धान्त को लेकर सन्तजन अकारण ही शरण में आये हुए भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। ऐसा करना उनकी अहेतुकी इच्छा का स्वातन्त्र्य है। इसमें मीन-मेख भला कौन निकाल सकता है। भगवान् और महान् सन्तों के स्वभाव का ऐक्य शक्तिपात में ही प्रतिफलित होता है।

यह तो रही प्रसंगवश बात। कुछ समय के बाद डा० बलजिन्नाथ जी ने संशोधित करके पुस्तक लौटा दी। मैंने उनके निःस्वार्थ रूप से पुस्तक को सुचारु रूप देने की मन ही मन भूरि प्रशंसा की। मुझे उनके

अहेतुक श्रम का अति आदर है। वे तथ्य रूप से देवी श्री शारिकाजी का हृदय से आदर करते थे, उसी के फलस्वरूप उन्होंने अपना अमूल्य समय इस पुस्तक को संवारने में लगाया। मैं उनके इस श्रम की आभारी हूं। हमारे गुरुदेव उनके इस निःस्वार्थ श्रम का पारमार्थिक फल अवश्य देंगे, ऐसी हमारी धारणा है।

इतने वर्षों के बाद यह पुस्तक जनता के हाथों में जा रही है। आशा है जनता इस पुस्तक से लाभान्वित होगी, ऐसा होगा तो मेरा प्रयास भी सफल होगा।

इस पुस्तक को छापने में जिन महानुभावों ने योगदान दिया है, उनका हम हृदय से कल्याण चाहते हैं। प्रभु उनको सदैव अच्छे कर्मों में हाथ बटाने की प्रेरणा दें।

गुरुकृपा की सत्पात्रभूता,
प्रभा देवी

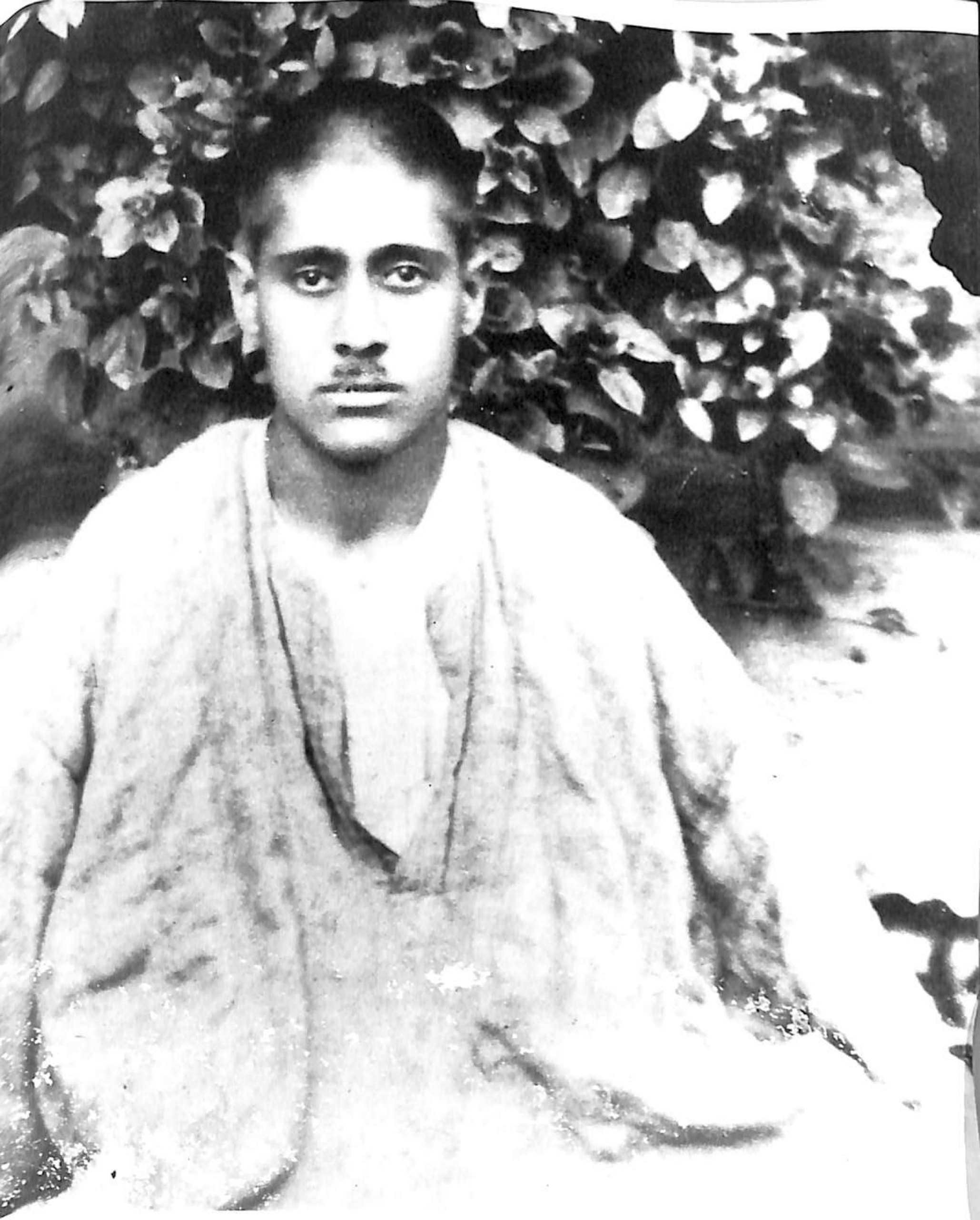
विषय सूची

जीवन-गाथा

ब्रह्मवादिनी

सुश्री शारिका देवीजी

की



महाहिमाद्रि बाल्यकाल से
ही करता था गर्जन।
बाह्य मौन सरल स्वभाव का
अन्तः करता विश्वमन्थन॥

An extract from a letter written by

Svāmī Lakṣmaṇ Joo Māharāja
addressed to Jawahar Lal Jee Sopori
on Janmashtami Sunday Year 1928

Thy respected self does not understand the now-a-day's situation of blessed Sharika. She should not be advised by thyself in such a way, for her flaming Bhakti towards the Lord of Lords has totally defeated the whole mayavic universe. Such Devis are rarely found in this world of pains. Her holy existence in your own home will prove the result of thousands of thy good 'Karmas' of the past janamas if she lives long.

With kind regards.

Sd/
Lakshmanjoo



बैठी निश्चल परमतत्त्व को खोज रही,
बन उत्सुकमन।
देवी शारिका योगिनी रूपमें
करती सद्‌गुरुका चिन्तन॥

ॐ श्री गुरवे नमः।

अध्याय-१

पारमेश्वरी लीला

यह संसार परमेश्वर की एक सुविचित्र तथा सर्वथा असीम नाट्य-लीला है। इसके अनन्त वैचित्र्य-पूर्ण अभिनय में स्वयं परमेश्वर ही सूत्रधार बनता है। इस महानाट्य-लीला में नायक आदि पात्रों के रूपों को वह स्वयमेव धारण करता है। रंग-मंच भी स्वयमेव बनता है। नट, नटी, वेष, भूषा, स्थान, दृश्य, वातावरण आदि के रूपों को परमेश्वर स्वयमेव धारण करता है। नाटक के अभिनय की विचित्रता के दर्शन का आनन्द लेने वाले दर्शकों के रूपों में भी वह स्वयं ही प्रकट होता रहता है। इतना ही नहीं इस दिव्यातिदिव्य नाट्य-लीला के विविध रूपों का रसास्वादन भी वह स्वयमेव लेता रहता है। "प्रत्यभिज्ञा हृदय" में भी यही बात कही है—**"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"**

इसी कथन की पुष्टि करते हुए आचार्य अमृतवाग्भव जी, श्री विंशतिकाशास्त्र में कह गए हैं:—

सभ्यो नटो विभावादि-भावाः रङ्गः स्वयं भवन्।
स्वचरित्रानुकारेण स्वयमेव भजते रसम्॥

(विं.शा, १३)

इस महानाटक के अभिनय के मुख्य अंग दो हैं। स्वरूप-गोपन और स्वरूप-प्रकाशन। इनके पारिभाषिक नाम हैं—निग्रह और अनुग्रह। स्वरूप-गोपन की लीला में परमेश्वर एक ओर से छत्तीस तत्त्वों से बने हुए इस महाब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट हो जाते हैं और दूसरी ओर से सात प्रकार के प्रमातृवर्गों को धारण करते हैं। इन प्रमातृ-वर्गों के भी तीन उपवर्ग हैं—शुद्धवर्ग, शुद्धाशुद्ध वर्ग और अशुद्धवर्ग। शुद्धवर्ग के

प्रमातृगण अपने वास्तविक शुद्ध चिन्मय स्वरूप पर ही अहन्ता के विमर्श को ठहराते हैं। अपने आप को शुद्ध, असीम तथा पारमैश्वर्य से सम्पन्न चैतन्य ही समझते हैं। इनमें भी सर्वोच्च स्थिति उनकी है जिन्हें सदैव अपनी असीम प्रमातृता का ही विमर्श होता रहता है। सारे का सारा प्रमेय प्रपञ्च उनके शुद्ध चिन्मय प्रमातृ-स्वरूप में उस तरह से विलीन होकर रहता है, जैसे कटक, कुण्डल आदि विचित्र प्रकार के अलंकार स्वर्ण-पिंड के भीतर सदैव स्वर्णमात्र-स्वरूप से ही विद्यमान रहते हैं। स्वर्ण में इस बात की योग्यता होती है कि उसे विविध प्रकार के अलंकारों के रूप में लाया जा सकता है और ऐसी स्थिति में भी स्वर्ण, स्वर्ण ही बना रहता है। शुद्ध प्रमाताओं में भी यह शक्ति होती है कि वे प्रपञ्च के रूप को धारण करते हुए भी अपने शुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप से विचलित नहीं होते। ऐसे शुद्ध प्रमातृवर्ग को शिव-प्रमाता कहा जाता है। वे वस्तुतः शिवात्मक ही होते हैं। ये प्रमाता शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व में ठहरे रहते हैं। इस शुद्धक्षेत्र को शक्तिक्षेत्र कहा जाता है।

दूसरा क्षेत्र होता है शुद्धाशुद्ध प्रमातृवर्गों का। शक्तिक्षेत्र से नीचे ठहरा हुआ यह शुद्धाशुद्धक्षेत्र विद्याक्षेत्र कहलाता है। इस क्षेत्र में रहने वाले प्रमाताओं के तीन वर्ग होते हैं। उनमें से सर्वोच्चवर्ग होता है मन्त्र-महेश्वरों का। वे सदाशिवतत्त्व में ठहरे रहते हैं। वे भी अपने आप को शुद्ध, असीम और सर्वशक्ति-सम्पन्न चैतन्य ही मानते हैं, परन्तु उनकी उस शुद्ध-चिद्रूपता में अर्थात् प्रमातृता में, सामान्याकार प्रमेय-प्रपञ्च का धीमा सा प्रतिबिम्ब भी आभासित होता रहता है और उन्हें स्वात्म-विमर्श इस प्रकार से होता रहता है कि "अहम् इदम्"—मैं ही यह सामान्याकार प्रमेय-प्रपञ्च हूं। इन प्रमाताओं से एक सीढ़ी नीचे वाला स्थान मन्त्रेश्वरों का होता है। वे ईश्वर-तत्त्व में ठहरे रहते हैं। उन्हें स्वात्म-विमर्शन "इदम् अहम्" अर्थात् यह प्रमेय-प्रपञ्च मैं ही हूं—इस रूप में भासित होता रहता है। मन्त्र-महेश्वरों के स्वात्म-विमर्शन में अहन्ता की, यानी चिद्रूपता की प्रधानता प्रकाशित होती रहती है, किन्तु इन मंत्रेश्वरों में वह प्रधानता प्रमेय रूप 'इदम्' अंश की ही हुआ करती

है। 'अहं' वाला अंश उनमें 'इदं' वाले अंश का विशेषण जैसा या स्वभाव जैसा बना रहता है। विद्याक्षेत्र में तीसरे निचले सोपान पर विद्येश्वर नाम के प्रमाता ठहरे रहते हैं। उन्हें मन्त्र-प्रमाता भी कहा जाता है। इनका स्थान शुद्धविद्यातत्त्व का वह निचला सोपान होता है, जिसे महामाया कहा जाता है। इन 'मन्त्र' नामक प्रमाताओं को इदं रूपी प्रपञ्च अपने से सर्वथा भिन्न, प्रमेय के रूप में ही प्रतीत होता रहता है और उसका विमर्शन उन्हें इस प्रकार से हुआ करता है—"अहम् अहम् इदम् इदम्" अर्थात् यह प्रमेय वस्तु अन्य है और शुद्ध-चैतन्यात्मक मैं—प्रमातृतत्त्व अन्य हूं। इन तीन वर्गों के प्रमाताओं के अधिष्ठाता क्रम से भगवान् सदाशिव, ईश्वर भट्टारक और भगवान् अनन्तनाथ हैं। ये अधिष्ठाता वहां उपास्य देव हैं और तीन प्रमातृवर्ग उनके उपासक प्राणी हैं। यहां तक के सभी प्रमाता शुद्ध प्राणी होते हैं, क्योंकि एक तो वे शुद्ध चैतन्य को ही अपना आप समझते रहते हैं और दूसरे अपनी पारमेश्वरी शक्ति का भी उन्हें विमर्शन होता ही रहता है—वे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् प्राणी होते हैं। इस भांति इन तीनों ही वर्गों के प्रमाता शुद्ध प्रमाता माने और गिने जाते हैं। इनकी स्थिति का क्षेत्र, विद्या-क्षेत्र कहलाता है। यद्यपि विद्येश्वरों में भेद-दृष्टि रूप मल का अंश टिका ही रहता है, फिर भी शुद्धचैतन्य-स्वरूप होने के कारण और अपने में परमेश्वरतात्मिका शक्ति के चमत्कार के विद्यमान रहने के कारण इन्हें शुद्ध-क्षेत्र में ही गिना जाता है। इस प्रकार इस शुद्धाशुद्ध क्षेत्र को भी शुद्ध ही गिनते हैं।

अशुद्ध-क्षेत्र को माया-क्षेत्र कहते हैं। इसके भीतर भिन्न भिन्न स्तरों पर तीन प्रकार के प्रमातृवर्ग ठहरे रहते हैं। उनमें से स्वल्पमल वाले प्रमाता विज्ञानाकल कहलाते हैं। ये प्रमाता अपने आप को शुद्ध चैतन्यात्मक समझते तो हैं, किन्तु उन्हें अपनी परमेश्वरता के चमत्कार का आस्वाद नहीं आता है, क्योंकि उनकी शुद्ध-चेतना ऐश्वर्यहीन होती है। फिर भी वे कर्म-फल-विपाक आदि से तथा जन्ममरण के संकट से मुक्त ही रहा करते हैं। जगत् को मायात्मक और सर्वथा मिथ्या मानने वाले तथा उस माया को परब्रह्म की शक्ति के रूप में न देखते हुए, उसे

उसकी बाह्य उपाधि के ही रूप में ठहराते हुए दार्शनिक इस विज्ञानाकल वर्ग में ही चिरकाल तक टिके रहते हैं। अन्ततोगत्वा किसी शुद्धवर्गीय प्राणी की अनुग्रहात्मिका दृष्टि से इनकी भी ज्ञानदृष्टि में जब अनुकूल विकास हो जाता है, तो ये भी शुद्ध प्राणियों के किसी वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं। खूब घने मल से मलिन बने हुए प्राणियों के भी दो वर्ग होते हैं। उनमें से एक वर्ग को प्रलयाकलवर्ग कहा जाता है। इस वर्ग के प्राणी शरीर और अन्तःकरणों से शून्य सीमित अहंरूप चेतना के रूप में अपने आप का विमर्शन करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि ये प्राणी स्थूल शरीर से परे ठहरी हुई और अन्तःकरणों और बाह्यकरणों से भी उत्तीर्ण शुद्ध परन्तु सीमित चेतना को अपना आप समझते रहते हैं। जैसा आत्म-विमर्शन हम लोगों को सुषुप्ति दशा में होता रहता है वैसा ही विमर्शन इन्हें लगातार रहा करता है। इन्हें ऐश्वर्य का विमर्शन तनिक भी नहीं होता। इन प्राणियों को प्रलयाकल अवस्था प्राप्त होती है। महाप्रलय तक ये मानो एक गहरी नींद में सोये रहते हैं। उस प्रलय की अवधि के समाप्त हो जाने पर जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ शिव, मूल प्रकृति में पुनः क्षोभ को उत्पन्न करके अन्तःकरण आदि तत्त्वों की सृष्टि करते हैं, तो उस समय ये प्रलयाकल प्राणी गहरी नींद से पुनः जाग उठते हैं और पूर्व संस्कारों के अनुसार संसार में प्रवृत्त हो जाते हैं।

सदैव संसृतिचक्र में फंसे रहने वाले प्राणी सकल प्राणी कहलाते हैं। ये प्राणी या तो स्थूल शरीरों को अथवा सूक्ष्म शरीरों को ही अपना आप समझते रहते हैं। भेद दृष्टि इनमें सदा ही जागती रहती है अतः ये सदा कर्मफल भोग के प्रपंच में फंसे ही रहते हैं। इन्द्र आदि देवताओं से लेकर कृमि, कीट, पौधों आदि तक के सभी प्राणी इसी वर्ग में गिने जाते हैं। ऐसे प्राणी जड़ वस्तुओं को ही अपना आप समझते हैं। अतः ये सभी अल्पज्ञ और अल्पशक्ति हुआ करते हैं और कर्म-फल भोग के चक्करों में फंसे रहते हैं। इन्हें बद्ध-प्राणी कहते हैं। प्रलयाकल अवस्था में रहने वाले प्राणी कुछ समय के लिए जन्ममरण से मुक्त होकर रहते हैं, किन्तु नवीन सृष्टि के समय पुनः उस चक्कर में फंस जाते हैं, यदि

किसी उच्चवर्ग के प्राणी की अनुग्रह-दृष्टि इन पर न पड़ी हो। इन दोनों ही वर्गों को बद्ध प्राणियों के भीतर गिना जाता है। विज्ञानाकल प्राणी मुक्ति की ओर बढ़ते हुए होते हैं। शुद्ध वर्गों के प्राणी भिन्न-भिन्न स्तरों की मुक्ति का आस्वाद लेते रहते हैं।

परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी लीला के इस महानाटक में स्वयमेव इन सातों ही स्तरों वाली भूमिकाओं में अवरोहण और आरोहण करते रहते हैं। उनकी इस अवरोहण लीला को निग्रह लीला कहा जाता है और उनकी यह आरोहण लीला अनुग्रह लीला कहलाती है। निग्रहलीला के अभिनय का बीज उनके निग्रह कृत्य के भीतर विद्यमान रहता है और अनुग्रह लीला के अभिनय के बीज उनके अनुग्रह कृत्य में रहते हैं। दोनों की लीलाएं अनन्तप्रकार के वैचित्र्य को लेकर के ही चलती हैं। तभी तो यह विश्वात्मिका नाट्यलीला सदैव सुविचित्र चमत्कार से भरी रहती है। अभिनय-क्रिया की चमत्कारकारिता तो उसकी विविधता में ही रहा करती है। जिस नाट्यकला में यह विविधता न हो, उससे किसी को भी चमत्कार नहीं होता। परमेश्वर सुविचित्र कला वाला नाट्यकार है और सम्पूर्ण विश्व ही उसका अनोखा नाट्य है। इस महानाटक में कोई भी पात्र ऐसा नहीं दीखेगा जिसमें अपना कोई विशेष व्यक्तित्त्व न हो। तभी तो इस कला की चमत्कारकारिता की कोई भी सीमा नहीं। इस प्रकार के अनोखे वैचित्र्य को लाने के लिए परमेश्वर अपनी निग्रह और अनुग्रह लीला का अभिनय अनन्त प्रकार से करते रहते हैं। जैसे किसी भी वृक्ष के कोई भी दो पत्ते सर्वथा एक जैसे नहीं होते, वैसे ही इस विश्वरूपी महानाटक में सभी पात्र अपनी-अपनी विशेषता से युक्त हैं।

शक्तिपात

अनुग्रहलीला में होने वाली परमेश्वर की प्रवृत्ति को शक्तिपात कहा जाता है। वह शक्तिपात अनेक प्रकार की विविधता को लेकर के ही चलता रहता है। शास्त्रों में उसके मुख्य प्रकार नौ बताये गये हैं। कोई शक्तिपात सद्यः

मुक्ति देने वाला होता है, कोई देर से, कोई एक साथ ही और कोई क्रम से। क्रमिक शक्तिपात की लीला में कभी बीच-बीच में निग्रहशक्ति की लीला का भी अभिनय होता रहता है। उससे साधक की प्रगति कुछ काल के लिए रुक जाती है। कोई शक्तिपात एक जन्म में ही परिपूर्ण मुक्ति दिलाता है और कोई अनेकों जन्मों के बाद मुक्ति प्रदान करता है। कभी-कभी शक्तिपात से मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हुआ साधक अपने आध्यात्मिक प्रगति में कुछ समय के लिए रुक भी जाता है। ऐसे साधक पर उसके अगले जन्म में पुनः शक्तिपात हो जाता है और वह पुनः मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हो ही जाता है। एक बार जिसे शक्तिपात हो चुका हो, वह परमेश्वर का भक्त बन जाता है। उसे क्रम से, अक्रम से या तत्क्षणात् सद्यः मुक्ति मिल जाती है। परमेश्वर का भक्त प्रायः तीव्रगति से मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाता है और उसे कभी न कभी अपने परमेश्वरभाव का साक्षात् अनुभव हो ही जाता है। उस अनुभव से वह जीवन्मुक्त पदवी को प्राप्त करता है। भौतिक शरीर में जीवित रहता हुआ भी वस्तुतः बन्धनों से मुक्त होकर ही रहता है। उसे इस सांसारिक जीवन में ही शिवभाव की साक्षात् अनुभूति हो जाती है। कभी-कभी शक्तिपात में मन्द गति के होने से किसी-किसी साधक को धीरे-धीरे प्रगति करते हुए और मलशोधन करते हुए कई एक जन्मों में शैवी साधना के अभ्यास से स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है। एक ही जन्म में परिपूर्ण स्वरूपलाभ किसी विरले अधिकारी को ही हो सकता है। प्रायः अधिकांश साधक कई एक जन्मों में साधना का अभ्यास करते हुए क्रम से ही स्वरूपलाभ को पूर्णरूप से प्राप्त करते हैं। ऐसा करते हुए वे अनेकों सत्पात्रों को भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करते रहते हैं। इस तरह से क्रमिक मोक्ष-मार्ग पर चलता हुआ साधक जनता का पर्याप्त उपकार करता रहता है। सद्यः मुक्ति पाने वाले सिद्ध को ऐसा उपकार करने का विशेष अवसर नहीं मिल पाता है। वह तो साक्षात्कार हो चुकने पर संसार में अधिक देर तक ठहरना ही नहीं चाहता है, अपितु इस भौतिक शरीर को छोड़कर परिपूर्ण शिवभाव में प्रवेश करने के लिए आतुर हो जाता है। कभी-कभी तो सिद्ध गुरु को अपने ऐसे शिष्य की ऐसी इच्छा को

तत्काल पूरा करने के लिए उसके प्रति प्राणहरण दीक्षा भी करनी पड़ती है, जिससे वह क्रम-मोक्ष के सभी स्तरों को एक साथ ही पार करता हुआ और तत्काल शिवभाव को प्राप्त करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मांड की असीम लीला के नायक पद का आस्वाद लेने लग जाता है। इस भांति वह व्यक्तिगत रूप से संसार का विशेष कल्याण कर ही नहीं पाता। वैसा कल्याण तो प्रायः क्रम-मोक्ष के मार्ग पर चलते हुए योगी महानुभाव ही कर पाते हैं। उन्हीं के विषय में भगवद्गीता में कहा है:—

'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपने परमार्थसार ग्रन्थ में इस प्रकार के साधक का वर्णन करते हुए उसे योगभ्रष्ट नाम दिया है। वस्तुतः ऐसा योगभ्रष्ट, क्रम-मोक्ष के मार्ग पर चलने वाला साधक होता है और अनेकों ही जन्मों में जनता का कल्याण करता रहता है। क्रम-मोक्ष के इस शैवी-सिद्धान्त का ही अनुकरण करते हुए विज्ञानवादी बौद्ध गुरुओं ने 'बोधिसत्त्व' की स्थिति का निरूपण किया है।

गुरुदेव

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ के साथ ही साथ कश्मीर मंडल में ऐसे दो महानुभाव, प्रकट हुए जो पिछले जन्मों में शैवी साधना का अभ्यास करते हुए तथा क्रम-मोक्ष को ही युक्त समझते हुए अपने वर्तमान जन्म के द्वारा कश्मीर-मंडल के महत्त्व की वृद्धि कर गए। उन में से हमारे गुरुदेव सिद्धयोगी ने श्रीनगर में रहने वाले एक परम आस्तिक भक्तजन श्री नारायणदास जी (नारायण जू रैणा) के घर १९०७ ई० में जन्म लिया। उस समय पंडित नारायण जू के घर में एक उत्कृष्ट सिद्ध योगी श्री राम जी रहा करते थे। बच्चे के जन्म पर वे नाच उठे और कहा—"मैं राम हूं और ये लक्ष्मण होंगे", तदनुसार उनका नाम लक्ष्मण जी रखा गया। बाल्यकाल से ही हमारे ये गुरुवर्य महोदय सांसारिक भोगों से विरक्त थे और ईश्वर-स्मरण में ही लौ लगाये रहते थे। उन्हें शैवी योग-साधना का उपदेश और प्रशिक्षण श्रीराम जी के प्रधान शिष्य श्री महताबकाक

जी करते रहे। तीव्र वैराग्य के आवेश में एक बार वे घर को छोड़ ही गए थे, किन्तु उनकी माता जी इस बात से इतनी व्याकुल हो गई कि उन्होंने खाना, पीना भी छोड़ दिया। सभी सम्बन्धियों ने दौड़ धूप करके हमारे गुरुदेव को वापिस श्री महताबकाक जी के पास पहुंचा दिया। इस रीति से महताबकाक जी ने माता से बालक का पुनः मिलाप करा दिया। उनके लिए एक अलग मकान का निर्माण हुआ, जिस में हमारे गुरुदेव अपनी साधना में जुट गये। परमेश्वर को उनके द्वारा क्रममोक्ष की लीला रचानी थी और अनेकों ही लोगों का ऐहिक या पारमार्थिक उपकार भी उनसे करवाना था। इसी नीति के प्रभाव में आकर श्री गुरुदेव के हृदय में पढ़ने पढ़ाने की, और शैवी आचार्य बनने की इच्छा बढ़ती गई। उनके गुरुदेव श्री महताबकाक जी उनसे कहते रहे—इन विस्तृत ग्रन्थों का अध्ययन करना छोड़ कर शैव-योग के अभ्यास में लगे रहो, तो उसका फल यह होगा कि जो कुछ भी इन ग्रन्थों में लिखा गया है, उसकी स्फूर्ति आप को स्वयमेव अभ्यास की तीव्रता से होती जायेगी। पढ़ने, पढ़ाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यद्यपि हमारे गुरुदेव बचपन से ही शैवी अनुभव में निष्णात थे, फिर भी वे अपने अनुभव की यथार्थता की साक्षी को शास्त्रों में भी देखना चाहते थे। इसी लक्ष्य की पूर्ति में वे शैवी ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहते थे। वे अपने गुरुदेव को न बताते हुए रहस्य रूप से विद्याभ्यास करने के प्रति उत्सुक होते गए। तदनुसार उन्होंने एक विद्वान् पंडित श्री महेश्वर राज़दान को बुलाया और उनसे विधिपूर्वक व्याकरण, शैव-शास्त्र आदि विषयों के ग्रन्थों को इस रीति से पढ़ते गए कि स्वामी महताबकाक जी को इस बात का पता भी न लगे। कुछ वर्षों के शास्त्राभ्यास के अनन्तर वे स्वयं जिज्ञासु शिष्यों को शैव-दर्शन पढ़ाने लगे। यह पढ़ाने का कार्य महाराज जी ने अपने शहर के मकान में ही प्रारम्भ कर दिया था। कुछ समय बीतने पर इनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए एक योगभ्रष्ट योगिनी सुश्री शारिका देवीजी (जिनका परिचय आगे दिया जायेगा) आईं। वे एक वर्ष तक इनके इसी शहर के मकान में, अभ्यास व अध्ययन करती रहीं। इसके बाद गुरुवर्य ने अपने पिता जी की अनुज्ञा लेकर, डल झील के पूर्वीय पर्वत के दामन

में एक भव्य भवन का निर्माण किया, सुन्दर वाटिका बनाई, और वहीं रहने लगे। इधर श्री शारिकाजी के पिता जी ने भी अपनी सुपुत्री के लिए इसी पर्वत के दामन में, गुरुवर्य के मकान के निकट ही भवन का निर्माण किया और वह वहां रहकर, गुरुवर्य से शास्त्रों का अध्ययन करती रहीं और साधना भी सीखती रहीं। इस भांति कई वर्ष बीत गये।

गुरुवर्य के पास श्रीनगर से अनेकों सम्बन्धी इस भवन में आने लगे। माता पिता तो स्थाई रूप से उनके पास रहते ही थे। गृहस्थ का सा वातावरण बनने से महाराज जी का मन तनिक इस स्थान से ऊबने लगा। अतः गुरु महाराज के मन में यह संकल्प उठा कि ऐसा छोटा सा आश्रम सड़क के किनारे बनाया जाये जहां संबन्धीजन, मित्रवर्ग और शिष्यवर्ग उनके साथ रह ही न पाएं और एकान्त ही बना रहे। गुरुवर्य का संकल्प भला अन्यथा कैसे होता। एक दो वर्षों के भीतर ही गुरुवर्य तथा देवी शारिकाजी ने अपने-अपने भवनों को बेच डाला। निशातबाग के पास ही एक छोटा सा आश्रम बना लिया, जहां सम्बन्धियों की भीड़ बन ही न पाए। किन्तु वे लोग कहां छोड़ने वाले थे। वे फिर भी आते ही रहे और आशीर्वाद लेते रहे। उन लोगों के बहुत से रुके हुए काम बनते रहे। हां इस नवीन आश्रम में वह आकर रह न पाये, प्रातः आते रहे और सायं वापिस लौट जाते रहे। अब तो स्वतन्त्र रूप से महाराज जी इस नवीन आश्रम में अपनी शिष्या सहित रहने लगे।

सिद्धयोगियों का स्वभाव विचित्र-विचित्र प्रकारों का हो जाता है। कोई तो काष्ठवत् पड़े रहते हैं, कई उन्मत्तवत् घूमते रहते हैं, कोई बालकवत् व्यवहार करते रहते हैं और कई विरले ही सिद्धजन सांसारिक व्यवहार में पारस्परिक व्यवस्था के अनुसार सर्वथा आदर्शभूत मार्ग पर चल पाते हैं। हमारे प्रातः स्मरणीय गुरुमहाराज का स्वभाव कई बार बालकों का जैसा देखा गया। हर्ष, शोक, स्नेह, क्रोध, रुचि, अरुचि, सहानुभूति, उपेक्षा, अनुग्रह, ताटस्थ्य, करुणा आदि भाव उनके व्यवहार से प्रकट होते रहते थे, परन्तु कोई भी भाव चिरकाल तक उनके अन्तःस्तल में स्थान नहीं बनाता रहा। केवल अपने भक्तजनों के हित

के लिए यत्न करते रहने का एकमात्र भाव चिरकाल तक महाराज जी के हृदय में स्थान बनाए रहा। इधर स्वार्थ से प्रेरित भक्तजन उनकी दयालुता व उदारता का दुरुपयोग अपने क्षुद्रतम प्रयोजनों के लिए ही किया करते थे। ऐसी बातें गुरुदेव ने स्वयं कई एक बार बताई हैं। सच तो यह है कि महाराज जी के पास इने-गिने शिष्य ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए आते रहे। बहुतायत तो बुभुक्षु शिष्यों की ही थी। यह सब कुछ समझते हुए भी महाराज जी बालकोचित स्वभाव को लेकर, जीवन-लीला रचा कर सिद्धलोकों के प्रति प्रस्थान कर गये। अपनी जीवन-लीला में गुरुदेव ने केवल ईश्वर-भक्ति की ओर लोगों को लगाने का भरसक प्रयत्न किया। प्रति रविवार को अपने अनुभवों से युक्त शैवी-ग्रन्थों का व्याख्यान देते रहे। शिष्यों की पारस्परिक वैर-भावना की भर्त्सना करते रहे और उन्हें सद्भावना की ओर प्रेरित भी करते रहे। इस भांति लोकोपकार आजन्म करते रहे। गुरुदेव के निःस्वार्थ उपकारों का वर्णन भला वाणी कहां तक कर सकती है। हम तो केवल उनके चरणों में नत-मस्तक होकर प्रणाम ही कर पाते हैं।

गुरुदेव के इस संसार में जन्म लेने के कुछ ही वर्ष बाद एक योगिनी कश्मीर मण्डल में जन्म लेकर प्रकट हो गईं। वह भी गुरुदेव की भांति क्रम-मोक्ष के मार्ग पर अभ्यास करती हुई भगवद्गीता में बताए हुए योगभ्रष्ट की गति से इस विश्व में आकर और योग के अभ्यास में समुचित प्रगति करके तथा सर्वथा तपस्वियों वाले जीवन को पूरा करके सिद्धों के लोकों के प्रति प्रस्थान कर गईं। उनका जीवन-वृत्तान्त ही प्रकृत ग्रन्थ का मुख्य विषय है। उसी प्रयोजन की सर्वाङ्ग पूर्ति के लिए पहले गुरुदेव जी का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया। अब प्रकृत योगिनी के जीवन-चरित को विस्तार से लिखा जा रहा है।

श्री शारिका देवी (जन्म और शैशव)

श्रीनगर में महाराजगंज मार्केट के समीप सराफ कदल वाले मुहल्ले में श्री जियालाल जी सोपोरी नाम के एक



उदीयमान नच यौवन में ही,
तज भव का वैभव सब विषमय।
स्वर्ग बनाने इस धरती को,
इस चिन्ता में दिखती तन्मय॥

आस्तिक पंडित महानुभाव रहा करते थे। आगे कई वर्षों के पश्चात् वे श्रीनगर के ऊपरी भाग वज़ीरबाग नामक बस्ती में नया घर बना कर निवास करते रहे। पंडित महोदय एक सामान्य सज्जन थे। स्वभाव से ही धर्म में तथा धार्मिक कार्यों में रुचि रखने वाले एक आदर्शभूत महानुभाव थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम था राधिकारानी। वह भी बड़ी श्रद्धालु, सन्तों की आज्ञा पालने वाली, भगवद्भक्त महिला थीं। सनातन धार्मिक कार्यों में रुचि रखती थीं। दोनों ही पति-पत्नी बड़े सज्जन, सद्विचारों वाले, आचारवान् और भगवद्भक्त थे।

उनके ऐसे गुणों के कारण उनके घर में एक शिवयोगिनी ने जन्म लिया, अपने क्रम-मोक्ष के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए। तदनुसार वि. सं. १९७० (ई. सन् १९१३) अगहन मास के शुक्लपक्ष की द्वितीया तिथि को ब्राह्ममुहूर्त में इस योगिनी ने सुश्री राधिकारानी के गर्भ से श्री जियालाल सोपोरी के घर में जन्म लिया। कन्या रत्न का शरीर शिरीष कुसुम की भांति अत्यन्त सुन्दर, सुकोमल था। शरीर के सभी अंग इतने सुढ़ौल थे कि देखने वालों की दृष्टि उस शिशु शरीर में मानो गढ़ जाती थी। माता पिता और घर के सभी सगे सम्बन्धी व स्नेहीजन ऐसी अनुपम कन्या का दर्शन करते करते मानो तृप्त ही नहीं होते थे। इनके जन्म लेने पर सारा परिवार खुशियां मनाने लगा। कन्या-रत्न के सुन्दर शरीर को देखने से ऐसा आभास होता रहा कि यह कोई दिव्य आत्मा है जो कारण वश मानव योनि में प्रकट होकर सोपोरी जी के घर में आई हैं।

कुल पुरोहित आ गए। जन्म-कुण्डली की गणना की गई तो ज्योतिषी महानुभाव कह गए कि यह कन्या साधारण मानव न होती हुई कोई दिव्य योगिनी है। कन्या रत्न का नामकरण संस्कार बड़ी धूमधाम से हुआ। उसकी दिव्य आकृति के अनुसार उसका नाम रखा गया "शारिकादेवी"। आगे अपनी जीवन यात्रा को निभाती हुई इस कन्या ने यह प्रमाणित किया कि वह सचमुच शारिका देवीजी के अनेकों गुणों को धारण करती हुई मानो साक्षात् शारिका भगवती ही अंशावतार

के रूप में इस मानव जगत् में प्रकट हुई हों।

जन्म के पश्चात् कन्या ने नौ महीने तक ही अपनी माता का दूध पिया। पश्चात् माता जी जब बीमार हो गईं तो डाक्टर ने माता का दूध कन्या के लिए देने का निषेध किया। तब से फिर शारिकाजी गाय के दूध से ही पलती रहीं। समय पर अन्न प्राशन भी करवाया गया, किन्तु विशेषतया गाय के दूध से ही उनकी शरीर-पुष्टि होती रही, मानो कि देवी अपनी माता के शरीर को अधिक कष्ट नहीं देना चाहती थीं। सभी घर के लोग और सम्बन्धी आदि इस दिव्य कन्या को बहुत प्यार देते रहे। माता-पिता तो उसके विकसित होते हुए सुन्दर, सुकोमल तथा मनोहर शरीर को स्नेह भरे नेत्रों से निहारते हुए थकते ही नहीं थे। जब शारिकाजी का तीसरा वर्ष पूरा हो गया तो उनकी माता ने एक होनहार पुत्र-रत्न को जन्म दिया। भारत में अब भी पुत्र जन्म पर विशेष खुशी मनाई जाती है और जिस कन्या के बाद पुत्र का जन्म हो, उस भ्रातृमती कन्या को भाग्यशालिनी माना जाता है। ऐसे संस्कार जनता में प्राचीन काल से पड़े हुए हैं। भ्रातृमती कन्या की प्रशंसा ऋग्वेद में भी की गई है। चाहे साम्यवाद का कितना भी प्रचार क्यों न किया जाए, परन्तु भारत में सदा बहिन अपने भाई से बहुत प्यार करती रहेगी और अपने आप को भ्रातृमती होने के नाते भाग्यशालिनी समझती रहेगी। शारिकाजी भी इस भाई के जन्म पर जिसका नाम श्री माहन लाल रख गया, फूली नहीं समाईं। सभी जन उसकी ऐसी भाग्यशालिता पर सन्तुष्ट होते रहे।

कैशोर अवस्था

कश्मीर-मंडल में कश्मीरी पंडितों में प्रथम, शारिकाजी के पिता स्वनामधन्य जियालाल जी सोपोरी सिविल इंजीनियर के पद पर नियुक्त हुए थे। तब तक कोई भी कश्मीरी पंडित इंजीनियर न था। इनकी तबदीली जब रामबन हुई तो ये सपरिवार वहां चले गए। रामबन में एक बार शारिकाजी की टांग में एक भयावह फोड़ा निकला। डाक्टर इलाज करते रहे। उन्होंने ऑपरेशन करके फोड़े को चीरना

उचित समझा। तदनुसार जब आपरेशन के लिए फार्म भरा तो उस पर बीमार का नाम 'शारिका' देखते ही डाक्टर चौंक पड़ा। वह भी धर्मपरायण देवी-भक्त था—उसने पिता जी से कहा—"मैं शारिका नाम वाली कन्या के शरीर में चीर-फाड़ नहीं करूंगा। क्योंकि मैं देवी-भक्त हूं अतः शारिका देवी के नाम की भी अवहेलना मुझ से नहीं होगी।" इस पर पंडित सोपोरी जी दुविधा में पड़ गये। उनकी व्याकुलता को भांप कर डाक्टर बोले—यदि कोई महानुभाव इस कन्या के कोमल शरीर पर चाकू चलाने के पाप की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ले लेवे तो मैं ऑपरेशन कर दूंगा। इस पर सोपोरी जी ने बड़ी प्रसन्नता से इस पाप की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ले ली। तब डाक्टर ने उनका ऑपरेशन किया। कुछ दिनों में ही शारिकाजी ठीक हो गईं और खेलने कूदने लग गईं। कुछ दिनों के बाद सभी को उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ जब सोपोरी जी की टांग में भी वैसा ही फोड़ा निकला और ऑपरेशन करवाना पड़ा। दैवयोग से कैसी विचित्र घटनाएं घटती हैं। इस घटना से डाक्टर भी अतीव प्रभावित हो गया। उसकी श्रद्धा शारिका भगवती पर स्थिर हो गई और उसने यह जान लिया कि इस कन्या में अवश्य दैवीशक्ति विद्यमान है। उसने पिताजी से कहा कि यदि आप इस पाप को अपने ऊपर न लेते तो मैंने इस पाप का बुरी तरह भागी बनना था। इस घटना का फल यह निकला कि घर के लोगों तथा सभी परिचित महानुभावों पर इस देव-कन्या का प्रभाव, उसके बाल्यकाल से ही पड़ता गया। आगे जैसे जैसे शुभ कार्यों में वह रुचि रखती रहीं वैसे वैसे कार्यों से उन्हें रोका नहीं गया। उन्हें कोल्हू के बैल की तरह पूर्व निर्धारित पारम्परिक जीवन-मार्ग पर नहीं चलाया गया। जैसी इस कन्या-रत्न की अपनी प्रवृत्ति होती रही, वैसे ही उसे जीवन-यात्रा में आगे बढ़ने दिया गया।

शारिकाजी स्वभावतः धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने में रुचि रखती थी। अभी वह नवम वर्ष की ही आयु में थीं, जब उन्होंने रामबन में नव-रात्रों के अवसर पर केवल सात दिनों में ही तुलसीकृत रामायण-श्रीरामचरित-मानस का पारायण पूरा कर दिया और किया भी पूरी

तन्मयता से। सभी सुनने और देखने वाले कन्या की ऐसी लगन पर आश्चर्य-चकित तथा हर्ष-विभोर होते रहे। आठवें दिन विधिपूर्वक पोथी की पूजा की गई। शारिकाजी ने व्रत का पारण किया तब फिर नौववें दिन दो समय भोजन किया। उस समय उनके माता-पिता भी कुछ न जान पाये कि इस कन्या की यह प्रवृत्ति उसे भावी जीवन-यात्रा में किधर को ले चलेगी। सभी प्रसन्नता-पूर्वक उनका गुणगान ही करते रहे और ऐसी ऐसी प्रवृत्तियों में उनके उत्साह को बढ़ाते ही रहे।

उस कैशोर-अवस्था में कन्या की दिनचर्या निम्नलिखित रूप से चली करती थी—छोटी आयु में प्रायः सबों को नींद प्रिय होती है, फिर प्रातःकाल की नींद किसे नही भाती। महाकवि जगद्धरभट्ट ने उसकी महिमा को गाते हुए उसे अनेकों ऐसे मनोहर विषयों में गिना है, जिनके माधुर्य की उपमा मधुर कविता के साथ दी गई है—

निशान्तनिद्रेव दशेव शैशवी
नवीनवध्वाश्चकितेव दक्छटा।
सुरस्त्रवन्तीव कथेव शाम्भवी
कवीन्द्रवाङ् निर्वृतिमातनोतु वः॥

भाव यह है—कवीश्वर की वाणी आप सभी सुनने वालों के आह्लाद को बढ़ाए जो निम्नलिखित विषयों की तरह मनोहर है—

(१) प्रातःकाल की निद्रा, (२) शैशव अवस्था, (३) नई दुल्हन की चकित दृष्टि की शोभा, (४) गंगा नदी और (५) शाम्भवी कथा।" तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल की निद्रा बहुत ही मनोहर और सुखप्रद हुआ करती है, विशेषकर बच्चों के विषय में। शारिकाजी उस छोटी आयु में भी प्रातः चार बजे जग जाती थीं, नहा धोकर अपने कमरे के एक कोने में आसन जमा कर बैठा करती थीं। पूरा एक घंटा बैठने के बाद अपनी माता जी के पास जाकर दूध तथा नाशता करती थीं। फिर बालक, बालिंकाओं के साथ खेल, कूद में भाग लेती थीं। सायंकाल संध्या के समय भी



गुरु भक्ति पर किया समर्पण,
धनमन तन और अमिनव यौवन।
प्रखर रश्मिसी रश्मिनाथ की,
"प्रभा" प्रकाशित करती जनजन॥



उसी तरह से आसन लगाकर पूरा एक घंटा बैठा करती थीं। इस भांति आसन पर बैठकर क्या करती थीं, यह कोई नहीं जानता था। अभी तो उन्होंने जप, ध्यान आदि की शिक्षा दीक्षा भी किसी से नहीं ली थी। माता-पिता इस बात को बालक्रीड़ा समझा करते थे। बहुत सम्भव यही है कि पूर्व जन्म के प्रबल संस्कारों से प्रेरित होकर, सायं प्रातः एक एक घंटा एकाग्रता पूर्वक बैठने से, शारिकाजी के सांसारिक विषय-संकल्प तथा तदुचित विकल्प शान्त होते रहते थे, जिस बात का आभास सम्भवतः उन्हें भी नहीं होता रहता था। शास्त्रानुसार मनुष्य यदि आसन जमा कर बैठे और केवल श्वासप्रश्वास की सतत गति पर सावधान रहे तो ऐसा करने से भी स्वरूप-साक्षात्कार की गति हाथ में आ जाती है। किन्तु ऐसी बातें भी अभी तक उन्हें किसी ने भी नहीं सिखाई थीं। अतः यही सम्भव है—पूर्वजन्म में की गई साधना के जो संस्कार अचेतन या अवचेतन मन में पड़े हुए थे, उन्हीं से स्वयमेव ऐसा होता रहता था। घर के लोग तो इस प्रकार एकान्त में बैठने को भी बाल्यक्रीड़ा ही समझा करते थे। फल यह हुआ कि किसी ने भी कभी भी इस तत्त्व की गवेषणा नहीं की।

आगे जब शारिकाजी बारह वर्ष की हुईं तो उनकी माता ने एक और कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम प्रभा रखा गया। शारिकाजी इस छोटी बहिन का पालन पोषण बड़े स्नेह से करती रहीं। माता जी तो केवल स्तन्य पान ही कराती रहीं शेष नवजात शिशु की देख-रेख का सभी कार्य शारिकाजी स्वयं करती थीं। हां, अपना प्रातः सायं का नित्य कृत्य उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। नियमपूर्वक दोनों समय एकाग्रतापूर्वक बैठने से श्री शारिकाजी का मन एक विचित्र वैराग्यमय सांचे में ढ़ल गया। सांसारिक सुखों के उपभोग के प्रति उन्हें कभी उत्कण्ठा नहीं हुई। आगे देवीजी रातदिन स्वयमेव प्रारम्भ किये गये अभ्यास में ही लगती रहीं। जब भी मौका मिलता था तो वह अपने कमरे में जाकर विधिपूर्वक अभ्यास किया करती थीं। वह अभ्यास क्या था, किस प्रकार का था, किसने सिखाया था, इन बातों को कोई नहीं जान

पाया। कभी-कभी तो अभ्यास में इतनी लीन हो जाती थीं कि खाने पीने की भी सुध नहीं रहती थी।

देवीजी की बड़ी भाभी के छोटे भाई हमारे गुरुदेव स्वामी ईश्वर-स्वरूप जी महाराज थे। भाभी ने एक बार बातों बातों में अपने भ्राता श्री ईश्वर-स्वरूप जी से, श्री शारिकाजी के स्वभाव व उनकी प्रवृत्ति के विषय में चर्चा की। स्वामीजी ने अपनी बहिन से कहा—कभी उस कन्या को उनके पास ले आए। बहिन ने हामी तो भर दी, किन्तु यह कहा—मैं अपने सास, ससुर से पूछ कर ही ऐसा कार्य कर सकती हूं। कुछ दिनों के बाद भाभी जी सास, ससुर की अनुमति पाकर शारिकाजी को अपने छोटे भाई स्वनाम धन्य श्री लक्ष्मणजी महाराज के पास ले गई। वह था गुरुशिष्य का प्रथम मिलन। इस प्रथम दर्शन में ही प्राक्तन संस्कारों के प्रभाव से दोनों के हृदय में क्रम से गुरुभाव और शिष्य भाव का संस्कार जागृत हो उठा। श्री स्वामीजी महाराज ने अपने अवचेतन मन से शारिकाजी को मानो अपने शिष्य के रूप में पहचान लिया और देवीजी ने भी, इसी भांति उन्हें अपने गुरु के रूप में पहचाना।

गुरु महाराज ने शिष्या से पूछा—आप क्या अभ्यास करती हैं? शिष्या ने कहा—मैं अभ्यास तो करती नहीं हूं, केवल प्रातः सायं आसन पर घंटा भर बैठ जाती हूं। परमेश्वर की महत्ता का स्मरण किया करती हूं। ऐसा करने से मेरा मन निःस्पन्द तथा शान्त हो जाता है। मैं स्वतः एकाग्रता की स्थिति में जा पहुंचती हूं। मुझे बाहिर की सुधबुध तनिक भी नहीं रहती। मुझे आनन्द का अनुभव होने लगता है। ऐसी बात सुनने पर स्वामीजी के मन में तीव्र इच्छा उद्बुद्ध हो गई कि इस होनहार कन्या को अपनी शिष्या बनायें। तब शारिकाजी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि उचित मुहूर्त्त पर वह उनके पास आए तो उनसे शैवी अभ्यास की दीक्षा ले। शारिकाजी यह सुनकर अति प्रसन्न हो गईं। मन में उनसे विधिपूर्वक दीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्हें तो स्वामीजी के दर्शनमात्र से ही एकाग्रता की स्थिति का अनुभव होता रहा। अतः मन ही मन

उन्होंने श्री स्वामीजी को अपना गुरु मान ही लिया। उन्होंने विचारा जब स्वामीजी के दर्शनमात्र से एकाग्रता हुई तो विधिपूर्वक दीक्षा लेकर अभ्यास करने से क्या नहीं होगा। आगे वह दिन तब आया जब देवीजी मात्र उन्नीस वर्ष की थीं। वह श्री देवीजी का प्रथम गुरु दर्शन था। ई० सन् १९३२ का यह प्रसंग है।

विवाह प्रस्ताव

देवीजी के यौवन में पदार्पण करने पर माता-पिता ने उनके लिए समुचित वर की तलाश आरम्भ कर दी। विशेष करके जब उनकी भाभी ने, देवीजी व स्वामीजी के प्रथम मिलन का वृत्तान्त सुनाया तो श्री सोपोरी जी कन्या का विवाह कराने के काम में त्वरित गति से सक्रिय हो गए। श्री श्यामलाल जी कारिहलू के सपुत्र के साथ कन्या की कुण्डली के अनुकूल मिलान पर, दोनों पक्षों की ओर से सम्बन्ध जोड़ने में तीव्र रुचि के होने से दोनों का परस्पर विवाह होना निश्चित हो गया। विवाह की तिथि भी निर्धारित हो गई। इधर सोपोरी जी इस विवाह के विषय में श्री स्वामीजी से परामर्श लेने के लिए गए। स्वामीजी महाराज ने स्पष्ट शब्दों में कहा—इनका विवाह भगवान् शंकर से हो चुका है। आप बेकार प्रयत्न कर रहे हैं। देखिये आगे क्या होता है। सोपोरी जी ने बात तो सुनी, किन्तु फिर भी अपने प्रयत्न पर डटे रहे। इधर देवीजी अपने छोटे भाई श्री मोहनलाल जी के साथ स्वामीजी के पास 'मारबल' वाले मकान में दीक्षा के लिए गई। दीक्षा लेने से पूर्व देवीजी ने महाराज जी से कहा—महाराज मुझे ऐसी साधना सिखाइये, जिसे मैं गृहस्थ जीवन में भी निभा सकूं। देवीजी ने यह नहीं कहा कि मैं विवाह नहीं करूंगी। वह तो सदा माता-पिता की आज्ञा पालक थीं, किन्तु गुरु-आज्ञा उनके लिए सर्वोपरि थी। गुरुवर्य ने उत्तर में कहा—हम तुम्हें राजयोग की दीक्षा देंगे। तुम अहर्निश उसका अभ्यास करते रहना। अब रही बात विवाह की, तुम्हारा विवाह भगवान् शंकर से हो चुका है। साधारण मानव तुम्हारा पति नहीं बन सकता। तुम्हें आजीवन ब्रह्मचारिणी बन कर रहना है। गुरुदेव के इस कथन से प्रसन्न होकर देवीजी घर लौट आईं।

इधर विवाह की तिथि निश्चित की गई। सभी सम्बन्धियों और मित्रों को सूचना तथा निमन्त्रण पत्र भेजे गये। विवाह को अति समारोह से मनाने के मंसूबे बांधे गये। देवीजी ने आपाततः माता-पिता के आदेश को स्वीकार तो किया, किन्तु मन ही मन उदास हो गईं। वाग्दान की रस्म रची गई। देवीजी को सजाया गया। गाना बजाना होता रहा। मिठाइयां बांटी गईं। सभी खुशियां मनाते रहे। देवीजी तो अमनस्कभाव से सभी व्यवहार देखती रहीं। ऐसी परिस्थिति में एक विचित्र घटना घटी।

विवाह उत्सव के निश्चित होने से एक सप्ताह पश्चात् लड़के वालों ने यह सन्देशा भेजा कि लड़के को स्वप्न में शारिका भगवती के दर्शन हुए और भगवती ने उसे कहा–सोपोरी जी की कन्या शारिका, मेरा ही एक रूप है। उसके साथ विवाह न करना। यदि करोगे तो तुम्हें जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। तुम कन्या के माता पिता को तुरन्त सन्देश भेज दो कि विवाह स्थगित करें। यह समाचार जब श्री सोपोरी जी के पास पहुंचा तो उन्हें हार्दिक खेद तो हुआ किन्तु उन्होंने शारिकाजी के विचारों की परख के हेतु उन्हें यह बात कही–बात सुनते ही देवीजी कुछ समय के लिए अन्तर्मुख हो गईं तब फिर कहा–जो भी प्रभु की इच्छा होगी वही किया जाये। मेरा अपना कोई भी संकल्प नही है। मुझे पूर्ण विश्वास है–प्रभु मुझ से जो भी कराना चाहेंगे, उसी में मेरा कल्याण होगा। यह कहते हुए देवीजी पुनः विमर्श-निमग्न हो गईं। कन्या की यह अवस्था देखकर माता-पिता ने लड़के वालों के सन्देश को स्वीकार किया और फिर विवाह कराने का संकल्प ही मन से छोड़ दिया। उस समय सोपोरी जी को सर्वज्ञ स्वामीजी की भविष्यवाणी की यथार्थता ज्ञात हुई। विचार में आया–प्रभु की यही इच्छा है।

अब तो देवीजी अभ्यास में विशेष तन्मयता से जुट गईं। प्रतिदिन उन्हें नई-नई अनुभूतियां होती रहीं। अब सप्ताह में एक दिन अवश्य ही, फतेह कदल के 'मारबल' नामक स्थान में जहां गुरुवर्य रहा करते थे, अपने छोटे भाई मोहनलालजी के साथ जाया करती थीं और वहां शैव-शास्त्र पढ़ा करती थीं। एक दिन महाराज जी ने मोहनलाल जी से

कहा कि हम तीनों एक सप्ताह के लिए 'गोपीतीर्थ' नामक स्थान में जाकर रहेंगे। यह स्थान निशातबाग से ऊपर पहाड़ी पर है। वहां मेरे गुरु श्री महताबकाकजी भी रहने के लिये जाया करते हैं। तुम पिताजी की अनुज्ञा लेकर देवी शारिकाजी को साथ लेकर मेरे साथ चलो। दिन निश्चित हुआ। तीनों गोपीतीर्थ में रहने के लिए गये। देवी शारिकाजी की छोटी बहिन प्रभा भी संग गई। नौकर तथा तंबू आदि सभी खाने पीने का सामान भी ले गये। महाराज जी ने यहां अपने अभ्यास का नियत समय रखा। रात के दो बजे ही वे देवीजी तथा मोहनलाल जी को अभ्यास करने के लिये जगाया करते थे। प्रभा तो बच्ची थी, वह केवल इस सभी क्रीड़ा को देखती मात्र थी। प्रातः छः बजे तक तीनों ही व्यक्ति अभ्यास-परायण रहते थे। एक दिन अति अनोखी तथा असामान्य घटना घटी। रात के सात बजे देवीजी गुरु महाराज के लिए रसोई वाले तंबू से भोजन ला रही थीं। भोजन की थाली रखने के समय महाराज जी ने देवीजी को अभ्यास के विषय में सचेत किया। महाराज जी की वाणी में न मालूम क्या जादू भरा था। कहने की देर ही थी कि देवीजी ने केवल थाली सामने रखी और वापिस लौटते हुए ही इनका मन पर-वैराग्य के रंग में रंगा गया। फल यह हुआ—ये वृक्ष की ओट में पद्मासन लगाकर बैठ गई। इनके नेत्रों से आंसू छमाछम स्वयं बहने लगे। महाराज जी ने इनकी अवस्था देखकर शीघ्र भोजन समाप्त किया और स्वयं इनके सामने पलंग पर पद्मासन लगाकर बैठ गए। रात्रि के सात बजे से लेकर प्रातः चार बजे तक देवीजी अनथक रूप से आंसू बहाती रहीं। रात्रि की इस अपूर्व अवधि में देवीजी विचित्र अनुभवों का रसास्वादन गुरु-कृपा से कर रही थीं। वह कभी तो आनन्द-परायण अवस्था को पाकर मुख से अपने गुरुदेव से कहती थी—मैं आजीवन इसी आनन्द का अनुभव करती रहूं। श्री मोहनलाल जी ने इस लीला को स्वयं देखा है—वे कहते हैं कि उस समय गुरुवर्य साक्षात् शंकर के रूप में प्रतीत होते थे। देवीजी से महाराज ने कई वर मांगने के लिये कहे। स्वयं उन्हें वर मांगने के लिए कहते थे और फिर स्वयं 'तथास्तु' कह देते थे। एक वर यह भी मांगने के लिए कहा—तुम आजीवन मेरे

साथ साथ ही रहो। गुरु-शिष्य की यह आश्चर्यमय लीला देखकर मोहनलाल जी घबरा गये। इधर देवीजी के एक नेत्र में सारी रात रोने से सफेद जाला पड़ गया था।

साधना अभ्यास

अब तो मोहनलाल जी पूर्णतया घबरा गये। उन्होंने महाराज जी से देवीजी के ठीक होने की प्रार्थना की। वे भला क्या जानते थे—देवीजी किस अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रही हैं। महाराज जी ने भी उचित समझा कि इन्हें अब व्युत्थान में आना चाहिए। वे देवीजी को गोपीतीर्थ के चश्मे पर इसी अवस्था में हाथ पकड़कर ले गए और वहां स्वयं उन्हें नहलाया। नहलाने की देर थी कि देवीजी उस अवस्था से निकल कर व्युत्थान में आ गईं। सभी पदार्थ जो उस परमानन्द में सने दिखाई देते थे अब शुष्क तथा जड़ दिखाई देने लगे। अपनी इस जीव दशा को देखकर वह पुनः बिलख बिलख कर आंसू बहाने लगीं। महाराजजी के चरण छूकर अपनी अवस्था को लौटाने की प्रार्थना की। तब महाराज जी ने उनसे कहा—तुम्हें अभी काफी पढ़ना है। तुम्हारी यह अवस्था तुम्हें अन्तिम जीवन में पुनः प्राप्त होगी। महाराजजी ने बात तो कह दी पर देवीजी परमानन्द से विमुख हो जाने पर उन्मत्त सी हो गईं। अब तो स्वामीजी ने घर जाना ही उचित समझा। दिन के दो बजे अपना सभी सामान लेकर महाराजजी तांगे की अगली सीट में बैठे और देवीजी, मोहनलाल जी व प्रभा पिछली सीट पर बैठे। तांगा सराफकदल की ओर चल दिया। मार्ग में देवीजी ने विवशता के कारण उन्मत्तावस्था में महाराज जी से रोष-पूर्ण होकर अपनी पूर्व अवस्था के लिए अनाप-शनाप कहा। तब महाराजजी ने तांगे की अगली सीट से पीछे की ओर जब दृष्टि डाली तो इनके शीर्ष पर जटाजूट गंगा का प्रवाह तथा गले में सांप की माला का प्रत्यक्ष दर्शन देवीजी व मोहनलालजी ने किया। फिर तो देवीजी शान्त होकर अभ्यास-परायण रहीं।

इस घटना के बाद देवीजी नियमपूर्वक अपने छोटे भाई मोहनलालजी के साथ गुरु महाराज के पास मारबल जाती रहीं। उस



तुंग हिमालय सुखासीन है,
संग बिराजे इक हिमखण्ड।
अरुणोदय के नवमयूखसे,
मोती सा जो बना प्रचण्ड।।



शिष्य पुराने भक्तिभाव से,
संग रहे गुरु के पग पग,
मोहनलाल सोपोरी जी यह।
देवीजी के थे सहचर,
शक्तिपात से पूत बने थे,
स्नेहपात्र बने गुरुवर।।

युग में लड़कियां घर से दूर कहीं भी अकेली नहीं जाया करती थीं। उपासना में अपनी शिष्या की तन्मयता को और विषयों के प्रति पूर्ण वैराग्य के भावों को देखते देखते गुरुवर्य को भी अतीव हर्ष होता रहा, किन्तु वे अपने इस मानसिक हर्ष को किसी से नहीं कहते थे। एक दिन गुरु महाराज ने शारिकाजी से कहा कि तुम कल मोहनलालजी के साथ रात के नौ बजे मेरे पास आओ। हम तीनों रात के तीन बजे हारी पर्वत जायेंगे। देवीजी गुरु महाराज की प्रत्येक बात को सहर्ष स्वीकार करती थीं। दूसरे दिन रात के तीन बजे तीनों मारबल से हारीपर्वत की ओर चल दिये। स्वामीजी ने देवीजी को लड़कों का वेष-कमीज़, पाजामा और पगड़ी बांध दी, ताकि कोई यह प्रश्न न करे कि कन्या को कहां ले जा रहे हो। वहां पहुंचने पर स्वामीजी ने देवीजी से कहा—"देखो यहां जितनी भी शिलाएं दीखती हैं, ये सभी वास्तव में देवताओं के स्थूल शरीर हैं। तीन करोड़ देवता भगवती शारिका के इस पर्वत पर शिलाओं के रूप को धारण करके ठहरे हुए हैं। यह बात सुनते ही देवीजी को पर्वत के चारों ओर अनन्त देवताओं के दर्शन हुए। इस वार्त्ता का वर्णन देवीजी ने स्वयं इस पुस्तिका की लेखिका से कई बार किया था। इस भांति हारी पर्वत (शारिका पर्वत) की पूरी परिक्रमा करके तीनों, छः बजे प्रातः वापिस मारबल पहुंच गए।

वहां से देवीजी अपने घर सराफ कदल पहुंची तो नहा धोकर अपने दैनिक अभ्यास में बैठ गईं। उस अभ्यास में उन्हें एक सुविचित्र दृश्य की साक्षात् अनुभूति हुई। उन्होंने साक्षात् देवी महालक्ष्मी को कमल के पुष्प पर बैठकर आकाश मार्ग से उड़ते देखा। नीचे पृथ्वी पर हयियों का एक ढ़ेर पड़ा था। महालक्ष्मी उसी के ऊपर जब उतरने लगी तो शारिकाजी ने हाथ जोड़कर सनम्र प्रार्थना की—"हे जगन्माता! आप इन अपवित्र हड्डियों के ढ़ेर पर मत बैठिये, मैं भूमि को साफ करके इस पर शुद्ध लेपन करूंगी, तो आप उसी पर उतर कर विराजमान हो जाइये। महालक्ष्मी जी ने उत्तर देते हुए कहा—"जगन्नियन्ता के इस विश्वात्मक महानाटक में वह दृश्य आने वाला है, जिसमें मुझे अपवित्र घरों में तथा

कलियुगोचित लोगों ही के घरों में रहने का अभिनय करना होगा। तुम तपस्वी हो, विमर्श-परायण रहती हो अतः तुम्हारी प्रार्थना को भी ठुकरा नहीं सकती। इसलिए अंशतः पवित्र आचार वाले महानुभावों के घरों में भी निवास करती रहूंगी। यदि तुम लेपन द्वारा भूमि का शोधन नहीं करती तो मैं आचारवान् महानुभावों के घरों में झांकती भी नहीं।'' यह कहकर देवी महालक्ष्मी कुछ समय के लिए उस लिपी हुई भूमि पर भी विराजमान हो गईं। इस दर्शन की घटना देवीजी ने स्वयं इस पुस्तिका की लेखिका को सुनाई है। साथ ही यह भी कहा कि यदि उन्होंने उस समय भूमि को लेपन करके उसे शुद्ध बनाकर महालक्ष्मी से उस पर बैठने की प्रार्थना न की होती तो कश्मीर के पुरातन आचारवान् महानुभाव दरिद्र होते हुए अपने सभी आदर्श कर्मों को खो बैठते। ऐसी विचित्र अवस्था में पुनः व्युत्थान में आकर देवीजी अपने कार्यक्रम में नियमानुसार जुट गईं।

इन अलौकिक घटनाओं के पश्चात् देवीजी को प्रतिदिन सराफकदल से फतेहकदल श्री स्वामीजी महाराज के पास जाने का कार्यक्रम बन गया। वह वहां जाकर शैव-दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन करने लगीं। इस रीति से देवीजी पूर्णरूप से अद्वैतशैवदर्शन की साधना में जुट गईं। त्रिकप्रक्रिया के अनुसर पौरुष साक्षात्कार के द्वारा वास्तविक तत्त्व का स्वयं अनुभव करने से ही साधक संसार-बन्धन से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) को प्राप्त कर सकता है। त्रिकशास्त्र यह भी कहता है—पौरुषज्ञान तब तक अन्तस्तल में स्थिरतया जम नहीं पाता जब तक बुद्धि के स्तर पर भी सभी शंकाओं का समाधान न होने पाए और पूर्णरूप से संशय मिट न जाएं। ऐसे बौद्धज्ञान को स्थिर बनाने के लिए शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक होता है। श्री देवीजी अभी तक पौरुषज्ञान के मार्ग पर ही आगे आगे बढ़ती जा रही थीं। बौद्धज्ञान का अर्जन उन्होंने नहीं किया था। इस त्रुटि को दूर करने के लिए अब गुरुदेव ने अपनी योग्य शिष्या को त्रिकदर्शन के सरल और सुगम सिद्धान्त-ग्रन्थों को पढ़ाने का कार्यक्रम निश्चित किया।

तदनुसार देवीजी प्रतिदिन उनके पास जाकर पराप्रावेशिका, परमार्थसार, शिवस्तोत्रावली, प्रत्यभिज्ञाहृदय, गीतार्थ-संग्रह, शिव-सूत्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने लगीं। श्री गुरुदेव भी अति तन्मयता से उन्हें पढ़ाते रहे। इस तरह से देवीजी पौरुषज्ञान और बौद्धज्ञान दोनों ही के अर्जन में नियमपूर्वक आगे बढ़ती गईं।



अध्याय-२

ईशबर-आश्रम में

घरों में आडम्बर बहुत होता है। सम्बन्धी, मित्र, परिचित, ऐरे गैरे लोग आते ही रहते हैं। फिर घरों में कुशल-क्षेम की तथा व्यावहारिक विषयों की उलझनें भी मनुष्य को घेरे रखती हैं। पौरुषज्ञान और बौद्धज्ञान को भलीभांति जुटाने के काम में अनेकों ही विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। इन सभी कारणों को दृष्टिपथ में रखकर गुरुदेव ने यह संकल्प कर लिया कि शहर वाले घर से दूर किसी एकान्त पहाड़ी के दामन में भवन निर्माण करके रहें। अहोरात्र स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी साधना में नियत कालक्रम के अनुसार लगे रहें। उन्होंने अपने पिताजी से यह बात कही। श्री नारायण जी एक समृद्ध महानुभाव थे। वे अपने होनहार योगीराज पुत्र के लिए क्या न करते। उन्होंने ईश्वर-पर्वत के दामन में मनोनुकूल ज़मीन खरीदी। वहां एक सुन्दर दो मंज़िलों का मकान बना दिया। इसके चारों ओर फलों के वृक्ष तथा फूलों से सजा हुआ एक उद्यान भी बनवाया। श्री देवीजी के पिता सोपोरीजी ने भी वहीं करीब में एक सुन्दर सुखप्रद मकान अपनी कन्या के निवास के लिए बना दिया। दोनों भवनों में सभी प्रकार के सुखमय निवास का प्रबन्ध था। इन भवनों को भलीभांति सुखप्रद बनाने में लगभग एक वर्ष लगा। दोनों के पिता महोदयों ने खाना बनाने के लिए सेवक भी रखे तथा बाग, बगीचा बनाने के लिए माली भी रखे। भवन-निर्माण होने पर बड़ी-धूमधाम से पन्द्रह दिन तक विधिपूर्वक और श्रद्धापूर्वक जप-यज्ञ आदि करवाकर गृह-प्रवेश किया गया। यह जप-यज्ञ ई० सन् १९३४ में रचा गया और उसी समय स्वामीजी महाराज और सुश्री देवीजी विधिपूर्वक अपने-अपने नवीन भवनों में गृह-प्रवेश के उत्सव को मना कर वहां रहने लगे। अब तो दोनों ही गुरुदेव और शिष्या विधिपूर्वक साधना के अभ्यास में जुट गए। दोनों ही योगियों के माता-पिता भी यदाकदा आकर साथ रहने लगे और दैनिक व्यवहार की सभी झंझटें

अपने ऊपर लेते रहे। इस भांति दोनों योगियों को सर्वथा स्वतन्त्र रूप से अभ्यास करने की सुविधा सिद्ध हो गई। वे दिन देवीजी को जीवन भर याद आते रहे, क्योंकि परम शान्ति का वातावरण वहां बना रहता था। साधना का अभ्यास भी निर्विघ्न तथा नियमपूर्वक चलता रहता था। चिन्ता किसी भी बात की नहीं रहती थी। खाने पीने आदि का प्रबन्ध सोपोरी जी किया करते थे। भोजन बनाने के लिए सेवक भी था। इस प्रकार से देवीजी सततगति से निश्चिन्ततया अपना अभ्यास करती रहीं। प्रातः नियमपूर्वक गुरुदेव के भवन में जाकर संस्कृत भाषा के व्याकरण को और शैवदर्शन के ग्रन्थों को उनसे पढ़ा करती थी। सायंकाल में भी थोड़ी देर के लिए उनके दर्शन करने जाया करती थीं। शेष सारा समय अपने अभ्यास व पढ़ाई में व्यतीत करती थीं। गुरुदेव भी इसी प्रकार के निश्चिन्त, निराशंक वातावरण में अपने साधना अभ्यास में संलग्न रहा करते थे। सप्ताह में छः दिन ऐसा ही चलता रहता था। केवल रविवार को उनके कई एक शिष्यजन, स्नेही और निकट सम्बन्धीजन वहां आकर उनसे सत्संग का लाभ उठाते थे। पश्चात् ऐसा होने लगा कि कई एक निकट सम्बन्धी रविवार को आकर कई कई दिन वहीं रहते थे। माता-पिता के वहीं रहने से महाराज जी उन्हें कुछ न कह पाते थे। देवीजी प्रतिदिन प्रायः ढाई बजे प्रातः नींद से जागकर, हाथ मुंह धोकर अभ्यास में घंटों ही बैठती थीं। उस अभ्यास में उन्हें विचित्र योगज अनुभूतियां हुआ करती थीं। यदि कभी गुरुदेव उन्हें बहुत प्रातः बुलाते तो योग-साधना के प्रभाव से प्रभावित अर्द्धचेतना की सी स्थिति में उनके पास आया करती थीं और अनुज्ञा पाकर उसी स्थिति में लौट जाती थी। उस स्थिति को या तो गुरुवर्य जान जाते थे या वे स्वयं जानती थीं वह स्थिति जाग्रत और स्वप्न के बीच की सी स्थिति हुआ करती थी। इस अवस्था में भी देवीजी ने दो वर्ष में व्याकरण की लघुकौमुदी को पढ़ ही लिया।

देवीजी की छोटी बहिन प्रभा अपनी बड़ी बहिन और बहनोई प्रो० जियालाल जी कौल के साथ सर्दियों में जम्मू जाया करती थी और

गर्मियों में अपने पिताजी के पास रहती थी। कभी कभी देवीजी के पास ईशबर भी आती रहती थीं।जम्मू में रहते हुए उन्होंने हिन्दी की रत्न, भूषण और प्रभाकर परीक्षाएं पास की थीं। गुरुदेव की कृपादृष्टि उन पर भी पड़ी थी। फल यह हुआ—प्रभा को स्वामीजी ने साम्बपञ्चाशिका स्तोत्र अर्थ सहित पढ़ाया। वह मधुर स्वर में इन श्लोकों को गाया भी करती थीं। इस भांति उसे भी बचपन में ही आध्यात्मिकता के संस्कार पड़ते गये। सत्संग से क्या नहीं होता है। फिर जब सामर्थ्यवान् गुरुवर्य हों तो वे लोहे को पारस बना देते हैं। गुरुदेव उनके भावी जीवन से अभिज्ञ थे; तभी उसे भी पारमार्थिक सांचे में डाल रहे थे।

वयस्क होने पर इस कन्या का विवाह कश्मीर राज्य के महालेखाधिपति के दफ्तर के एक वरिष्ठ अधिकारी श्री ताराचन्द जी मट्टू के होनहार पुत्र श्री मातीलाल मट्टू के साथ ई० सन् १९४२ में किया गया। उस समय वे कराची में इंजीनियरी की ट्रेनिंग कर रहे थे। दैवयोग ऐसा बना-प्रभा जन्म से ही शाकाहारी थी और यह वर भी जन्म से ही शाकाहारी था।इतना ही नहीं, प्रातःकाल घंटा भर भगवान् की पूजा किये बिना वे चाय तक नहीं पीते थे। बड़े ही आस्तिक विचारों वाले युवक थे।शरीर भी सुढोल था। अनुपम प्रतिभाशाली भी थे। उनके ऐसे गुणों पर रीझ कर ही सोपोरी जी ने इस कन्या का विवाह उनसे कर दिया था। प्रभा के विवाह के समय स्वामीजी महाराज भी समुपस्थित थे।कन्यादान के समय उन्होंने श्री मोहनलालजी से धीमे स्वर में कहा—'लड़का देखने में तो अति मनोहर है किंतु अल्पायु वाला है। आगे प्रभु की इच्छा।'

अभी विवाह के दो वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे कि श्री मोतीलाल जी गर्मियों की छुट्टियों में श्रीनगर आये। घर में रहते अभी पंद्रह दिन ही हुए थे—वे घूमने के लिए ईशबर देवीजी के पास आये। प्रभा भी साथ थी। वहां रहते हुए एक रात को इन्हें भयंकर शिरोवेदना होने लगी। सभी घबरा गए। उन दिनों गुरुदेव मौन-व्रत में थे। वे तीन महीनों के लिए मौन-व्रत का संकल्प किये हुए थे। प्रातःकाल जब देवीजी उन्हें चाय बनाकर ले गईं तो मट्टू जी की शिरोवेदना का समाचार उन्हें कहा

और उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए आशीर्वाद मांगने लगीं। ऐसी स्थिति में गुरुदेव मौनव्रत का भंग करते हुए देवीजी से बोले—प्रभा को मेरे पास भेज दो। वह जब नीचे आईं तो प्रभा को स्वामीजी के पास जाने के लिए कहा। प्रभा ने देखा महाराज जी अपनी मस्ती में बैठे थे। उन्हें प्रणाम किया। स्वामीजी ने गम्भीरता पूर्वक उसे स्पष्ट शब्दों में कहा—"धीरज धारण करो। साहस से काम लो। इस महानुभाव ने जीवित नहीं रहना है। भावी अटल होती है। जो भाग्य में बंधा होता है उसे कोई नहीं मिटा सकता। तुम ने अपनी मनस्वी बहिन शारिकाजी के पास ही आजीवन रहना है। तुम्हारे ये पतिदेव स्वर्ग के एक गन्धर्व हैं। दो जन्मों से तुम्हारा पीछा करते आये हैं। अल्पायु में ही तुम्हें छोड़कर अब वापिस गन्धर्वलोक को जायेंगे। इनकी चिन्ता मत करो। इनकी तो ऊर्ध्वगति होगी। ये मर्त्यलोक से छूटकर दिव्यलोक में चले जायेंगे। तुम अपना उद्धार करो। ईश्वर की भक्ति में यदि लीन रहोगी तो तुम्हारा पल्ला इस गन्धर्व से छूट जायेगा। अब तुम तांगे में इन्हें लेजाकर वज़ीरबाग चली जाओ। वहां इनका समुचित इलाज करवाओ। हम भी ठीक होने के लिए प्रभु से प्रार्थना करेंगे किन्तु होगा वही जो प्रभु चाहेंगे।

ऐसी भयावह भविष्यवाणी को सुनकर प्रभा तो कांप उठी। गुरुदेव को प्रणाम किया और नीचे आकर मट्टू जी के पास आ गईं। मट्टू जी ने अपना सिर सहलाते हुए कहा—"मुझे पूर्व स्मृति एकदम उभर आई है। मैं वास्तव में देवलोक का एक गन्धर्व हूं। मैं दो जन्मों से तुम्हें प्रेम करता आया हूं। मैंने कुछ दिनों में ही यह मानव शरीर छोड़ना है। तुम अपनी मनस्वी बहिन के पास रहना। उसी में तुम्हारा परम कल्याण है। स्कूल में या कहीं भी नौकरी का काम न करना। प्रभु सदा तुम्हारी सहायता करेंगे। गुरुदेव की भी कृपादृष्टि बनी रहेगी। कभी निराश न होना। आशावादी बने रहना। मेरा आशीर्वाद भी सदा बल देता रहेगा।" उनकी परस्पर ऐसी अनोखी बातें हो ही रही थीं कि देवी शारिकाजी आ उपस्थित हुईं। उन्होंने प्रभा से कहा—मैंने तांगे का समुचित प्रबन्ध कर दिया। तांगे वाला परिचित है। तैयार होकर दोनों श्रीनगर चले जाओ।

जब तक तांगे वाला आयेगा, तब तक इन्हें कपड़े पहना दो। यह कहती हुई देवीजी ने बहन को अपने पहनने का वास्कट दिया और कहा—यह वास्कट इन्हें पहना दो, सर्दी से बचने के लिए। प्रभा का मन अभी दूध का धोया था, वह महान आत्माओं के रहस्य को नहीं जानती थी। उसने विचारा यह वास्कट तो देवीजी के पहनने का है। मैं भला महिला के वस्त्र को इन्हें क्यों पहनांऊगी।

फलतः उन्हें उत्तर न देते हुए वास्कट को ताक पर रख दिया। इतने में तांगा आ गया और दोनों उस में बैठकर नगर की ओर चल दिए। जब वज़ीरबाग सोपारी महोदय के घर पहुंचे तो माता-पिता इनकी रुग्णावस्था को देखकर घबरा गए। अवाक् से हो गये। मट्टू जी को बिस्तरे पर लिटा दिया। सबसे अच्छे अनुभवी डाक्टर को बुलाया गया। उन्होंने रोगी की परीक्षा करके बताया—इन्हें 'मेननजायटॅसो' यानी 'सरसाम' नाम का असाध्य रोग है। इलाज करेंगे, किन्तु स्वास्थ्य-लाभ ईश्वर ही के हाथ में है। सप्ताह भर खूब चिकित्सा होती रही। उन दिनों देवीजी भी ईशबर से आती रहीं। मृत्यु को भला कौन रोक सकता है। आठवें दिन असह्य शिरोवेदना से मट्टू जी का शरीर छूट गया और वे गन्धर्वलोक को सिधार गए। उस समय मट्टू जी की आयु कुल २३ वर्ष की थी और प्रभा की आयु २१ वर्ष की थी। असह्य मानसिक वेदना से सारा परिवार अतीव व्यथित हो गया। देवीजी ने माता-पिता तथा छोटी बहिन को सान्त्वना देते हुए बहिन से इधर उधर की बात करते हुए पूछा—मैंने जो वास्कट मट्टू जी को पहनाने के लिए दिया था वह उन्हें क्यों नहीं पहनाया था। मैंने तो उनकी प्राण-रक्षा के लिए ही दिया था। वास्तव में भाग्य के अनुसार ही प्रत्येक कार्य दैव करवाता है। इसमें तुम्हारा क्या दोष है? इस दुःखद वृत्तान्त के सुनने पर स्वामीजी भी अपने मौन व्रत का भंग करके वज़ीरबाग आये। उन्हें देखकर प्रभा तो बिलख-बिलख कर रो पडीं। महात्माओं का हृदय नवनीत के समान पेशल होता है। उन्होंने सान्त्वना देते हुए, सात दिन पीछे बताई हुई भविष्यवाणी का स्मरण कराते हुए कहा—प्राणी को स्वयं अपना उद्धार

करना चाहिए। ऐसा किये बिना असंख्य दुःसह दुःखों को भोगना पड़ता है। आत्म-उद्धार होने से सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। कौन जानता है, कितने पूर्व जन्मों में कितने ही असह्य दुःखों को प्राणी भोग चुका है। भगवदुपासना से अपना उद्धार करना ही एक मात्र सदुपाय है। इतने में मृतक शरीर को उठा कर श्मशान के प्रति ले गये। सभी प्रभा को घेर कर बैठे रहे। प्रभा के नेत्रों से उस समय एक भी आंसू नहीं टपका। भला जब मस्तक ही कट जाए तो आंसू कहां से टपकेंगे। उन दिनों श्री गुरुदेव प्रतिदिन आश्रम से आकर समुचित उपदेश देते रहे। उनके दर्शन व उपदेश से सारे परिवार को शान्ति मिलती थी। इस प्रकार एक वर्ष बीतने पर देवी शारिकाजी ने माता-पिता से परामर्श किया और छोटी बहिन को अपने ईशबर वाले मकान में ले आई। वहां करुणामय, दयालु गुरुवर्य के सामीप्य में रहकर भगवद्भजन, अभ्यास, शैव-शास्त्र का अध्ययन तथा गुरु-सेवा में रत रहने लगीं। सोपोरी जी तथा उनकी धर्मपत्नी का हृदय इस असह्य दुःख से छलनी हो गया था, उन्होंने भी इस विषय में अनुमति दे ही दी। फलतः ई० सन् १९४४ में प्रभा भी ईशबर के मकान में अपनी मनस्वी बहिन शारिकाजी के पास रहने लगीं। श्री स्वामीजी की विशेष सेवा तो श्री शारिकाजी ही करती रहीं। गुरु महाराज दोनों बहनों को तन्मयता से पढ़ाते रहे। इस तरह से तीनों ही भगवद्भक्तों का आश्रमोचित जीवन बड़े सुख और बड़ी शान्ति से चलता रहा। देवीजी को उस शान्ति के वातावरण में रहने, पढ़ने, साधना-अभ्यास करने में और गुरुदेव की सेवा करने में विशेष आनन्द आता था, साथ ही विशेष शान्ति के आस्वाद की अनुभूति होती थी।

अध्ययन-क्रम

पढ़ने पढ़ाने के क्रम में सब से पहले गीतार्थ-संग्रह को लिया गया। प्रतिदिन जितना ग्रन्थ पढ़ा और पढ़ाया जाता था, उतने भाग को इस पुस्तक की लेखिका रात को हिन्दी भाषा में लिखकर रखा करती थी। इस भांति श्री गीतार्थसंग्रह का हिन्दी अनुवाद भी दिन प्रतिदिन बनता गया। छः महीनें में ग्रन्थ का पठन पाठन भी पूरा हो गया।

श्री स्वामीजी को यह अनुवाद बहुत अच्छा लगा। यह रूपान्तर बहुत समय तक छप नहीं पाया। अन्त में बहुत वर्षों के पश्चात् सन् १९८७ में प्रकाशित हो गया। इस समय यह मिल भी रहा है। इसके प्रकाशित होने पर श्री स्वामीजी अति हर्षित हुए और मिठाई बांटी थी। गीतार्थसंग्रह के बाद स्वामीजी ने दोनों शिष्याओं को तन्त्रालोक पढ़ाना आरम्भ कर दिया। लगभग एक वर्ष तक इस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण खंडों को पढ़ा कर शैव-दर्शन के अन्य ग्रन्थों को भी स्वामीजी महाराज पढ़ाते गए और साथ ही अभ्यास भी कराते रहे।

पारमेश्वरी-निग्रह-लीला

पारमेश्वरी लीला के दो मुख्य अंग होते हैं। निग्रह और अनुग्रह जिनके अभिनय की प्रक्रिया में जीव, क्रम से बन्धन और मुक्ति के प्रति अग्रसर होते रहते हैं। इन दो लीलाओं के भी अनन्त प्रकार का अवान्तर वैचित्र्य रहा करता है। उसी वैचित्र्य से यह लीला चमत्कारमयी बनी रहती है। अनुग्रह लीला के प्रभाव से मानव मोक्ष-मार्ग के प्रति उन्मुख हो जाता है, उसे सद्‌गुरु मिल जाता है। गुरु के उपदेश के अनुसार वह साधना करता हुआ पारमार्थिक मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ता जाता है, किन्तु परमेश्वर, मोक्ष-मार्ग में लगे हुए मानव पर कभी आंशिक निग्रह का भी अभिनय करते हैं। उससे वह साधक कुछ समय के लिए या तो बन्धन के मार्ग में प्रवृत्त होने लगता है अथवा कम से कम उसी स्थिति पर चिरकाल के लिए टिका रहता है, उससे आगे बढ़ता नहीं। एक प्रकार से मानो त्रिशंकु की भांति अटक जाता है या एक पग या कई एक पग पीछे की ओर गतिशील होकर बना रहता है। प्रायः तब तक उसी स्थिति में टिका रहता है जब तक परमेश्वर उस पर किए गए अनुग्रह-कृत्य को वेगवती गति नहीं देते हैं। ऐसी स्थिति में मोक्षमार्ग पर चलते हुए साधक को कई एक प्रकार के विघ्न आया करते हैं, जिनसे उसकी प्रगति कुछ समय के लिए रुक जाती है। तदनन्तर परमेश्वर कभी पुनः अनुग्रह लीला की गति में जब तीव्रता को लाते हैं तो साधक वेगवती गति से साधना-मार्ग में आगे



तजकर यौवन के सुखसाधन,
धरा वेष योगिन का अनुपम।
है यह आसीना देवीजी,
अनन्य भाव में खोकर निजपन।।



गुरु शिष्य का संयोग अनूप यह,
किस तत्त्व काहै करता मन्थन।
महोदधी से निस्सृत रत्नों,

बढ़ता ही जाता है। ऐसी यह नाट्यलीला है। प्रभु की इस लीला में यदि ऐसा न हो तो इसमें कोई चमत्कार नहीं रहेगा। नाट्य-लीला में आगे पीछे गतिमत्ता के आने से ही तो चमत्कार आता है। निर्विघ्न कथानक को कभी भी नाट्यलीला में स्थान नहीं मिल सकता है। प्रभु विश्वनाटक के सूत्रधार हैं। वे एक एक प्राणी की जीवन-यात्रा में उतार-चढ़ावों के दृश्यों को स्थान देते हैं। तभी उनका यह विश्वात्मक महानाटक सर्वतः सर्वदा और सर्वथा चमत्कारमय बना रहता है।

देवी शारिकाजी बड़ी संलग्नता और सजगता से परमशान्ति के वातावरण में अपने ईशबर वाले भवन में नियमपूर्वक अपनी साधना में लगी रहती थीं। उन्हें नित नये अनुभव भी होते रहते थे। स्वभावतः उनके दिन प्रसन्नता से कटते गये, परन्तु पारमेश्वरी लीला के वैचित्र्य ने उनके उस शान्तिमय अभ्यास की प्रगति में निग्रह-लीला के आंशिक अभिनय के द्वारा कई एक विघ्न उपस्थित कर दिये। अति बलवान शत्रु को पराजित करते हुए जो विजय किसी शूरवीर योद्धा के यश को बढ़ाती है, वही उसकी शूरवीरता को चार चांद लगा देती है। शूरवीर सैनिक को ऐसी परिस्थिति से निपटने में ही पूरा आनन्द आता है। तो पारमेश्वरी क्रीडा के एक मध्यवर्ती अभिनय के प्रभाव से देवीजी के साधना मार्ग में भी कई एक बाधाएं उपस्थित होती रहीं, जिन्हें उन्होंने धीरता, उदारता, सहनशीलता और गुरुभक्ति-परायणता से पार कर ही लिया। अपने साधना-मार्ग से जरा भर भी विचलित नहीं हुईं। उन बाधाओं से धैर्यपूर्वक जूझते हुए अपने आप को शान्तभाव में ही रखती रहीं। अपनी आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग से तनिक भर भी विचलित नहीं हुईं। सभी बाधाओं के होते हुए भी, शान्तिपूर्वक धैर्य धारण करके आध्यात्मिक बल से जीवन भर निपटती ही रहीं। उस धीरता, सहनशीलता और कर्त्तव्यपरायणता का पूरा फल उन्हें मानवीय जीवन के अन्त पर मिला।

हां तो, ईशबर वाले आश्रम में तथा आगे ईश्वर-आश्रम में कई एक माने हुए सन्तों का समागम भी होता रहा। उनमें से एक सन्त के साथ देवीजी के समागम का वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

मेहरबाबा

ईसवी सन् १९५७ में सुप्रसिद्ध सन्त मेहरबाबा श्रीनगर आये और लगभग दो सौ शिष्यों को लेकर, ईशबर गांव में ही अपने एक भक्त के विशाल भवन में ठहरे। श्री स्वामीजी उन दिनों अपने लिए पहाड़ी के दामन में, अभ्यास के अनुकूल एक कुटिया का निर्माण कर रहे थे।

एक दिन बिना सूचना दिए ही दस बजे के समय कुछ एक शिष्यों को साथ लिए मेहरबाबा स्वामीजी के आश्रम में आ गए। स्वामीजी को जब सूचना मिली कि कुछ व्यक्ति आप का दर्शन करना चाहते हैं तो देवीजी को आदेश दिया कि इन आगन्तुक लोगों से कह देंवे—इस समय स्वामीजी मिल नहीं सकते। मेहरबाबा पाश्चात्य वेष में थे। उन्होंने शिष्यों से कह रखा था कि उनका परिचय यहां न कहना कि वे कौन हैं। किन्तु देवी शारिकाजी मेहरबाबा को देखते ही मन ही मन जान गईं—ये कोई छिपे हुए सन्त हैं। मेहरबाबा के शिष्यों ने देवीजी से कहा—बाबा आधा घंटा ही मिलना चाहते हैं। देवीजी ने यह संदेश गुरुदेव से कहा तो प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—उनसे कह दो हम पांच मिनट भी मिल नहीं सकते। स्वामीजी महाराज तो कुटिया बनवाने में जुट चुके थे। अतः उन्हें किसी से मिलने का अवकाश ही नहीं था। देवीजी ने हताश होकर उन महानुभावों से वैसा ही कहा, जैसा गुरुवर्य का आदेश था। तब फिर मेहरबाबा ने अपने हाथ से वापिस लौट जाने का संकेत शिष्यों को कर दिया। संकेत पाते ही वे सभी भवन के अहाते से बाहिर आ गए। ऐसा होने पर न जाने क्यों गुरुदेव शीघ्र गति से अपने कमरे में आ गए। उन्होंने देवीजी को पास बुलाकर कहा—हमें आन्तरिक दैवी संकेत से ज्ञात हुआ—ये महानुभाव मेहरबाबा थे। तुम तुरन्त ही उनके पास जाकर उन्हें हमसे मिलने के लिए लौटा लाओ। देवीजी भागी भागी जब उनके पास पहुंची तो मेहरबाबा ने मूकभाषा में ही कहा—मिलने का समय हाथ से चला गया। अब हम वापिस नहीं मुडेंगे। देवीजी हताश होकर स्वामीजी के पास आईं और घटना उन्हें कह दी। तब गुरुदेव सभी कार्य भुलाकर किवाड़ बन्द करके अपने कमरे में ध्यानमग्न होकर बैठे रहे।

मेहरबाबा लाला भगत कर्मचन्द के भवन में रह रहे थे। लगभग दो सौ शिष्य उनके साथ थे। प्रातःकाल से ही दर्शनार्थी लोगों की भीड़ लगी रहती थी। गुरुदेव ने देवीजी से कहा—तुम भी अपने दो तीन गुरु भाइयों के साथ जाकर उनके दर्शन कर आओ। उनमें श्री जानकी नाथ जी लाबरू काफी चलता पुर्ज़ा शिष्य था। उनके साथ देवीजी अगले दिन कर्मचन्द के भवन को गईं और भी तीन चार शिष्य साथ थे। प्रातः नौ बजे का समय था। दर्शनार्थियों की इतनी भीड़ लगी थी कि भीतर जाना साधारण काम नहीं था। देवीजी स्वभावतः जन-समुदाय से दूर ही रहा करती थीं। वह एक किनारे रुकी रहीं—जानकीनाथ जी से कहा—"जभी भीतर जाने का अवसर मिलेगा तभी भीतर जायेंगे। तब तक यहीं खड़े रहेंगे। उस समय मुझे भी बुला लेना। मैं तब तक इस भवन के पिछले छोर पर जो खलिहान है, वहां प्रतीक्षा करुंगी।" देवीजी अभी दस ही मिनट उस खलिहान में बैठी होंगी कि मेहरबाबा उस मकान की पिछली बालकनी में खड़े होकर देवीजी को भीतर आने का संकेत हाथ से करने लगे। देवीजी चकित हो गईं कि इतनी भीड़ में से भीतर कैसे जाना होगा। इतनी देर में मेहरबाबा के दो शिष्य आये और कहने लगे—बाबा आप को बुला रहे हैं। ऐसा कहते हुए वे लोगों की भीड़ में से उन्हें बाबा के पास ले गए। जानकीनाथ आदि गुरुभाई बाहिर ही रह गए।

बाबा एक लम्बे कद के प्रभावशाली आकृति के आजानुबाहु महापुरुष थे। उनके नेत्र योगियों के समान थे। दर्शन उनका आकर्षक, हृदयग्राही था। देवीजी से उन्हें प्रणाम किए बिना न रहा गया, यद्यपि उनके पास झुककर प्रणाम करने की प्रथा नहीं थी। देवीजी बहुत आकृष्ट हो गईं। उनके मन में क्षणिक संकल्प आया—कहीं यदि बाबा कहें—तुम मेरे साथ ही चल पड़ो तो मैं क्या करूंगी। उनके मन की बात बाबा समझ गये। वे प्रायः मौनव्रत में ही रहते थे। उनकी मूक भाषा को उनके प्रधान शिष्य समझ लेते थे और जिज्ञासुओं को बाबा का उपदेश लिखकर दे दिया करते थे। यही बात देवीजी के साथ हुई। फलतः बाबा ने देवीजी के उस संकल्प का प्रत्युत्तर दिया "तुम्हें आजीवन गुरुदेव के

पास ही रहना है। अनेकों विघ्नों के आने पर भी तुम्हें जीवन के अन्तिम दौर में गुरु सेवा का पूरा फल मिलेगा और अवश्य ही मिलेगा। आप पर परमेश्वर की अपार कृपा है।" यह उत्तर सुन कर देवीजी बाबा के प्रति पुनः नतमस्तक हो गईं। बाबा ने उनके मस्तक पर अपना करुणामय हाथ फेरा और जाने की अनुमति दे दी।

जब श्री शारिकाजी बाहिर आईं तो अपने गुरु भाइयों को प्रतीक्षा करते हुए देखा। वे सभी खिसिया से गए कि देवीजी स्वयं तो दर्शन कर आईं और हम अभी बाहिर ही खड़े हैं। किन्तु इस घटना में उनका क्या दोष था। रत्नज्ञ तो रत्न की परीक्षा कर ही लेते हैं। इस परख में उन्हें धोखा नहीं लगता है। देवीजी ने सरल स्वभाव से कहा—यह घटना कैसे घटी, हम स्वयं नहीं जानते। इसमें दैव ही साक्षी है। इतने में बाबा के शिष्यों ने आकर यह सूचना दी—

शेष दर्शनार्थी कल दर्शन के लिए आ जायें। आज समय बीत गया। सभी लौट गए। जानकीनाथ और देवीजी भी आश्रम को लौटे।

बाधाएं

देवीजी की शान्त और सौम्य जीवन-यात्रा में पारमेश्वरी लीला ने यदा-कदा ऐसी बाधाएं उपस्थित कर दीं जिनके प्रभाव से अधीर साधक अपने साधना-मार्ग से विचलित भी हो सकता है। विशेष बाधाओं के आने पर भी देवीजी की गुरु-भक्ति, गुरु-सेवा और गुरुवर्य के चरणों में सतत विश्वास पर कभी भी अन्तर नहीं आया। सच तो यह है—गुरुदेव के सभी व्यवहार बाह्यलीला ही के अंग बने रहे। उनकी आन्तरिक पारमार्थिक कृपा सदैव देवीजी पर ही बनी रही। इस बात का प्रमाण आगे स्पष्टतया मिलेगा, देवीजी के महाप्रयाण के अवसर पर गुरुदेव की मानसिक, वाचनिक और व्यावहारिक प्रवृत्तियों के वर्णन के पढ़ने पर।

श्रीगुरुदेव जन्म से ही सिद्ध तो थे ही। इस संसार में अधिक से अधिक व्यक्तियों को शिवमार्ग पर प्रवृत्त करने के लिए आये थे। वे नवीन

शिष्यों से अधिक प्रेम इसी हेतु करते थे कि वे कुछ पारमार्थिक लाभ प्राप्त करें। शिवमार्ग पर चलते ही रहें। इसे छोड़कर कहीं भटक न जाएं। अपने पक्के शिष्यों पर उनका पूरा विश्वास था कि ये कभी भी भटकने वाले नहीं हैं। फिर पक्के शिष्य का परीक्षण करने के लिए यदि वे कभी हम दोनों की अवहेलना करते भी थे तो उसमें भी उनका आन्तरिक स्नेह का ही भाव रहता था। किसी ने कहा भी है:–"क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।" वास्तव में ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाला शिष्य ही पक्का शिष्य होता है। जैसा कि कबीरदास कह गए हैं:–

"गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है
गढ़ गढ़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ दिये रहे
बाहर देवे चोट।"



अध्याय-३

ईशबर—आश्रम में नाट्यकला के अभिनय में जब तक किसी विशेष दृश्य का अपना चमत्कार पूरी तरह से नहीं निखर उठता है, तब तक नाट्यकला का स्वामी कवि उसमें तदनुकूल अन्य अन्य दृश्यों को उपस्थित करने की योजना को हाथ में ले लिया करता है और नट आदि तदनुसार ही उन उन दृश्यों का अभिनय करते जाते हैं। अन्ततोगत्वा इन अनेकों विरोधी दृश्यों के अभिनयात्मक चमत्कार के अभिव्यक्त होने के अनन्तर जब आगे नायक आदि पात्रों के उच्च चरित्र के अनुकूल दृश्यों का अभिनय होने लगता है तभी उन अनुकूल दृश्यों की चमत्कारिणी शक्ति सर्वांग-सुन्दर, रोचक और प्रभावशाली ढंग से निखर उठती है। तो देवी शारिका जी के साधना क्षेत्र में विश्वात्मक नाटक के सूत्रधार विधाता कई एक अन्य प्रकार की बाधाएं उपस्थित करता रहा। इन अभिनव बाधाओं में सबसे बड़ी बाधा यह उपस्थित हुई—उन्हें अपना शान्त वातावरण वाला ईशबर का मकान बेचना पड़ा। तदनन्तर उन्हें जीवनभर वह शान्ति पुनः कहीं भी नहीं मिल सकी जो वहां के एकान्त, स्वतन्त्र तथा सुखप्रद वातावरण में मिला करती थी।

स्वामीजी महाराज के माता-पिता के स्वर्गारोहण के बाद महाराज जी आश्रम में पूर्ण योगियों की भांति रहने लगे। स्वभावतः जनता का यातायात तथा सम्बन्धियों का दर्शन करने के बहाने से आना जाना गुरुवर्य को अखरने लगा। इधर सम्पूर्ण जायदाद की देख रेख से भी महाराज जी उकता से गए थे। देवीजी भी नवीन बहिर्मुख शिष्यों तथा शिष्याओं के आने से मन ही मन ऊब गईं थीं। अतः श्री गुरुदेव ने निश्चय किया कि दोनों मकानों को बेचकर सड़क के किनारे छोटा-सा एक ही मकान बनाया जाये, जहां शान्तिपूर्वक जीवन के शेष दिन व्यतीत किये जायें। शुद्ध-संकल्प के आते ही प्रभु ने दोनों के मकान बिकवा दिये। ई० सन् १९६१ में संपूर्ण ईशबर की ज़मीन बिक गई। सन् १९६२

में नवीन आश्रम का निर्माण हुआ। यह आश्रम निशातबाग व गुप्त-गंगा के मध्य, सड़क से तनिक ऊपरी भाग में निर्मित किया गया। इस नवीन आश्रम में देवी शारिकाजी, प्रभा तथा ब्रह्मचारी सेवक गोपीनाथ के अतिरिक्त कोई भी रात को नहीं रहता था। जनता, रविवार के दिन आकर जहां दर्शनों का लाभ उठाती थी वहां गुरुवर्य के मुखारविन्द से शैव-शास्त्रों का व्याख्यान सुनकर मानसिक शान्ति को भी प्राप्त करती थी। ईशबर आश्रम में श्री शारिकाजी का अपना स्वतन्त्र भवन था। अब वह बात नहीं रही। श्री गुरुदेव के पास जिन आने जाने वालों की भीड़ कभी-कभी लगती रहती तो उससे देवीजी के हाथ से वह शान्ति और एकान्तता छिन गईं, जो उन्हें ईशबर के भवन में मिलती रही थी। अतः उनकी साधना में तनिक ढ़ीलापन आने लगा। यद्यपि स्वामीजी महाराज ने रविवार को छोड़कर अन्य छः दिनों सभी शिष्यों को आश्रम में आने का निषेध घोषित कर दिया था, पर फिर भी कोई-कोई अपनी चतुरता से आता ही रहा।

श्री देवीजी ने अपने भवन को बेचते समय श्री गुरुदेव से अनुनय किया था कि वह उनके पास ही कहीं अपने लिए पृथक भवन बना लेंगी, परन्तु महाराज जी नहीं माने थे। महाराज जी ने उस समय आश्वासन देते हुए कहा था—"इस नए आश्रम में हम तीन (स्वामीजी महाराज, शारिकाजी और प्रभा) को छोड़कर और कोई व्यक्ति स्थाई रूप से नहीं रहेगा। शिष्यजन रविवार को सत्संग का श्रवण करके लौट जाया करेंगे। सोमवार को हम मौन रखा करेंगे, किसी से भी नहीं मिलेंगे। इस भांति सप्ताह में छः दिन पूर्ण शान्ति का वातावरण बना रहेगा। अतः तुम्हारे साधना-क्रम में कोई अन्तर नहीं आएगा। हमारा यह नया मकान सांझा रहेगा। स्वभावतः यहां सर्वथा शांति बनी रहेगी। ऐसीं बातें सुनकर ही देवीजी ने ई० सन् १९६२ में इस नए आश्रम में इकट्ठे रहने की बात मान ली थी। देवीजी ने इस नए भवन का नाम "ईश्वर-आश्रम" रखा। वे अपने गुरुदेव को 'ईश्वर-स्वरूप' कहा करती थीं। उनकी दृष्टि में गुरुवर्य साक्षात् ईश्वर का स्वरूप ही थे। आगे कई शिष्य गुरुदेव को इसी

नाम से जानते, कहते और सुनते रहे। तीन-चार वर्ष इस ईश्वर-आश्रम में ऊपर वर्णित योजना के अनुसार काम, काज, साधना, पठन, पाठन आदि चलता रहा। सेवक गोपीनाथ भी तन, मन से सेवा करता रहा। स्वभावतः प्रभु-कृपा से ये अपने परामर्श में अहर्निश रहने लगे।

इस भांति कई वर्ष व्यतीत करने पर विधाता को इन का पारमार्थिक व्यवहार फूटी आंख न भाया। फल यह हुआ—कई बहिर्मुख महिलाओं ने सेवा के मिस से इनके पारमार्थिक जीवन में रोड़ा अटकाना प्रारम्भ कर दिया। ऐसे समय में यदि देवीजी चाहतीं तो वज़ीरबाग जाकर अपने घर में ही साधना का अभ्यास निर्विघ्न रूप से करतीं, किन्तु गुरु शिष्य के संबन्ध में जो कहा गया है—"बांह जिनां दी पकड़िये , सर दइये बां न छोड़िये" उसी आदर्श के अनुसार तरह-तरह के उपेक्षा भावों को सहन करती हुई देवीजी ने गुरुदेव की आज्ञा को सदा शिरोधार्य कर रखा। अपनी गुरुभक्ति पर ज़रा भर भी आंच नहीं आने दी। उस भक्ति का परिपूर्ण फल उन्होंने अपने मानव जीवन के अन्त पर कैसे प्राप्त किया, इस बात का वर्णन उचित स्थान पर किया जाएगा। श्री गुरुदेव बहुत बार उनके ऐसे गुणों की स्वयं प्रशंसा किया करते थे।

सन्त-समागम
(स्वामी श्री मुक्तानन्द से)

देवी श्री शारिकाजी और मैं जब कभी जनता की बहिर्मुख प्रवृत्ति से ऊब जाती थीं तो किसी सन्त की लिखी गई पुस्तक को पढ़ने लग जाया करती थीं। एक दिन श्री स्वामी मुक्तानन्द जी द्वारा लिखित पुस्तक 'चित्-शक्ति-विलास' को पढ़ते पढ़ते उन्हें मन में संकल्प हुआ—इन महापुरुष के दर्शन होने चाहियें। संकल्प के आने पर जब पुस्तक समाप्त की तो मुझ से कहा—इतने महान् सन्त के दर्शन हम भी करते। मैंने कहा—हमें तो क्षण भर के लिए भी कहीं जाने की फ़ुरसत, नहीं, तो गणेशपुरी तक कैसे जा पायेंगे। देवीजी ने उत्तर देते हुए कहा—"यदि वहां जाना हमारा सम्भव नहीं तो स्वामी मुक्तानन्द जी



नेत्र खोलकर श्री देवीजी
किसका करती है दर्शन।
अपने गुरु को पाकर आगे
उनका ही करती चिन्तन॥

ही कभी कश्मीर यात्रा के बहाने यहां आ जाते तो हम उनके दर्शन कर पाते।'' मैंने कहा—''भला वे यहां क्यों आएंगे। यहां आने में उन्हें क्या प्रयोजन है।'' इस वार्त्तालाप के बाद दोनों ही अपने-अपने कार्य में जुट गईं। फिर पूरे एक सप्ताह के बाद स्वामीजी की शिष्या कमला जी, जो आश्रम के बगल में ही रहती थीं, देवीजी के पास आकर कहने लगी—''गणेशपुरी के स्वामी मुक्तानन्द जी मेरे घर में आए हैं। अपने शिष्यों को भी संग लाये हैं। आप दोनों और स्वामीजी भी उनसे मिलने के लिए आयें।'' मैंने श्रद्धापूर्वक देवीजी को मन ही मन प्रणाम किया। हम ने गुरुदेव से यह समाचार कहा तो वे हम दोनों के साथ कमला जी के बगीचे में मुक्तानन्द जी के दर्शन करने गये। स्वामी मुक्तानन्द जी ने हमारे गुरुदेव को आते देखकर, खड़े होकर उनका स्वागत किया। ज्यों ही देवीजी प्रणाम करने लगीं तो योगिराज ने उनसे कहा—''आपने हमें बुलाया तो हम शीघ्र आ गए। हम तो आप ही के लिए आये हैं।'' देवीजी और मैं ही उनकी बात को समझ पाये। देवीजी प्रणाम करके कुछ देर उनके सामने बैठ गईं। पूरे एक सप्ताह स्वामी मुक्तानन्द जी, कमला जी के भवन में रहे और हम सभों को अपने सत्संग से आह्लादित करते रहे। यह था फल देवीजी की सामान्य अभिलाषा का।

आगे एक और लगभग ऐसी ही घटना घटी। कर्णाटक में एक सन्त हैं, जिन्हें उनके शिष्य शिरडी वाले साईं बाबा का अवतार कहते हैं। वे उन्हें सत्य साईं (शिरडी वाले बाबा की अपेक्षा अधिक सत्यतया प्रकट हुए साईं) कहते हैं। उनके शिष्य और अनुयायी भक्तजन देश भर में विद्यमान हैं। एक बार श्री गुरुदेव के शिष्य जनों ने ईश्वर-आश्रम में आकर बाबा द्वारा दिखाये जाते हुए चमत्कारों का बहुत बखान किया। गुरुदेव प्रायः ऐसे सन्तों से मिलने के लिए चाव नहीं रखते थे, किन्तु सन्तों के प्रति उनका आदर-भाव सदा रहता था। इधर देवीजी को किसी भी सन्त का वर्णन सुनने पर उनके दर्शन करने की इच्छा हुआ करती थी। ऐसी इच्छा तो महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथजी कविराज को भी हुआ करती थी। ऐसी इच्छा का होना भगवत्-प्राप्ति के मार्ग के सफल पथिक के

स्वभाव का ही एक अंग होता है। तो देवीजी के मन में भी इन सत्यसाईं बाबा को देखने की अभिलाषा उदित हुई। किन्तु बड़ी दूर कर्णाटक देश जाने की कोई सम्भावना ही नहीं दीख पड़ी। फिर न जाने गुरुदेव इस बात की अनुज्ञा दें या नहीं। इस विषय में भी संशय ही था। ऐसी स्थिति में मैंने देवीजी से कहा—"यदि आप शुद्धसंकल्प पूर्वक उनके दर्शन की इच्छा करें तो स्वामी मुक्तानन्द जी की तरह वे भी कश्मीर आकर दर्शन दे ही देंगे।" देवीजी ने कहा—वह घटना तो घुनाक्षरन्याय से अकस्मात् ही हुई। भला हम भी कहीं सन्तों की श्रेणी में गिने जा सकते हैं। ऐसे महापुरुष स्वयं सर्वज्ञ होते हैं। यदि उनके प्रति हमारे मन में सच्ची श्रद्धा होगी तो वे स्वयं खिचे खिचे आ जायेंगे। इस बात में मेरा अपना महत्त्व कोई नहीं। इतनी बात कह कर देवीजी ने मुझे सो जाने को कहा।

इस घटना के बाद पन्द्रह दिन बीते होंगे—एक शिष्य ने गुरुदेव को सत्यसाईं बाबा के विषय में कहा कि वह श्रीनगर आये हैं। बादामीबाग में जहां आरमी की छावनी है, वहीं एक सेना के वरिष्ठ अधिकारी के यहां ठहरे हैं। उनके दर्शन के लिए वहां बड़ी भीड़ लगी रहती है। यदि आप चाहें तो हम कार में आप को उधर ले चलेंगे और हम सभी बाबा के दर्शन करेंगे। श्री गुरुदेव भी शिष्यों के मन के भावों को जान लेते थे। उन्होंने कहा—हमें तो उनके दर्शन की लालसा नहीं है। हां शारिकाजी व प्रभा जी को कल उनके दर्शन करा लाओ। इन दोनों के मन में यह इच्छा अंकुरित हुई है। इस भांति गुरुदेव भी यदा-कदा परचित्तज्ञान से सबों के संकल्पों को जान जाते थे। तो गुरुदेव के ऐसे वचन सुनकर हम दोनों अवाक् रह गईं। दिन निश्चित हुआ और हम दोनों साईं जी के दर्शन करने बदामीबाग उनके आवास पर पहुंच गईं। दर्शनार्थियों की बड़ी भीड़ में हम दोनों भी एक कोने में जाकर बैठ गईं। कोई पन्द्रह मिनट के बाद साईं जी बाहिर आ गए और तीर की तरह सीधे देवीजी के सामने खड़े हो गए। देवीजी ने जब उन्हें प्रणाम किया तो उन्होंने हस्त संकेत के द्वारा आशीर्वाद दिया। दोनों ही सन्त एक दूसरे की वागात्मिका भाषा को नहीं जानते थे। अतः मौन भाषा में ही संवाद

हुआ। तदनन्तर बाबा मञ्च पर बैठ कर तेलगू भाषा में भाषण देने लगे और साथ एक अनुवादक उस भाषण के भाव को हिन्दी में समझाता रहा। भाषण की समाप्ति पर बाबा फिर देवीजी के सामने उपस्थित हो गए और अपनी हथेली से उनके हाथ में थोड़ी सी बभूति अर्पण कर गए। सभी दर्शक आश्चर्य चकित होते रहे कि बाबा क्यों बार-बार देवीजी के पास आते रहे। वस्तुतः "जौहरि की गति जौहरी जाने" ऐसा मीराबाई कह गईं हैं। बाबा के पास परचित्तज्ञान की सिद्धि थी। तभी वह देवीजी के सत्य-संकल्प के वशीभूत होकर उनको बार-बार दर्शन देकर कृतार्थ करते रहे। इस प्रकार देवीजी की मानसिक अभिलाषा के फलस्वरूप हम सभों ने भी बाबा के दर्शन श्रीनगर में ही किये।

एक फकीर से

एक बार श्री गुरुदेव, देवीजी और मैं तीनों ही एक साथ पहलगाम घूमने गए। वापसी पर कुछ समय के लिए अनन्तनाग वाले अनन्त भगवान् के तीर्थ पर विश्राम किया। निर्मल और शीतल जल से भरे अनन्त भगवान के दोनों विशाल कुंडों के तटों पर खड़े चिनार वृक्षों की छाया में बैठकर विश्राम के अपूर्व सुख का अनुभव किया। अनन्ततीर्थ के सामने महाराज्ञी देवी का एक छोटा सा मन्दिर है। उसके भीतर एक कुण्ड है जो सदा जल से भरा रहता है। उस मंदिर के सामने वाले बाज़ार के पीछे, अनन्ततीर्थ से निकलते हुए जलस्रोत के दोनों ओर फैला हुआ एक विशाल उद्यान है। देवीजी ने अनन्ततीर्थ से बाहिर कुछ एक भक्तों से घेरे हुए एक लम्बी दाढ़ी वाले मुसलमान फकीर को जो देखा तो श्री स्वामीजी से आज्ञा लेकर उस फकीर के पास दर्शन के लिए जाने लगीं। देवीजी को अपनी ओर आते देखकर उस सन्त ने अपने भक्तों से कहा—"देखो खुदा की कन्या हम से मिलने आ रही है।" जब देवीजी निकट आ गईं तो उनसे कहा—"तुम्हारे मार्ग में कई एक विघ्न रूप गायें आ आकर विघ्न डाल रही हैं, किन्तु जीत तुम्हारी ही होगी। तुम विघ्नों की परवाह न करती हुई अपनी जीवन-यात्रा को सफल कर दोगी। तुम्हारे पीर (गुरुदेव) हृदय से तुम्हारी रक्षा कर ही रहे हैं। फिर भले

ही लोगों का दिल रखने के लिए तुम से अन्यमनस्क से होकर व्यवहार करते हैं।" उनके वाक्यों को सुनकर देवीजी ने उन्हें नमस्कार किया और हम दोनों गुरुदेव के पास आ गईं।

ये फकीर श्री अहदजू शोपू थे। उनकी पत्नी मर चुकी थी। लड़का कोई नहीं था। भतीजे के साथ रहते थे। पुराने समय के हाजी थे। ईश्वर पर पक्का विश्वास रखने वाले उपासक थे। मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं से अधिक सम्पर्क रखते थे। इस्लामी मन्त्र विद्या को भी जानते थे। उसके द्वारा लोगों का उपकार भी किया करते थे। ईश्वर-भक्त होने के कारण उस विद्या का दुरुपयोग नहीं करते थे। सारी जनता उनका सम्मान किया करती थी।

ई० सन् १९७५ में श्री स्वामीजी, और हम दोनों ही स्थाई शिष्याएं सर्दियों में जम्मू गए। श्रीगुरुदेव अपने भाई बन्धुओं के पास ठहरे और देवी शारिकाजी तथा मैं अपने भाई श्री मोतीलाल जी सोपोरी के घर में। दोनों ही घर पास पास हैं। उन्नीस बीस का अन्तर है। दो महीने जम्मू में रहकर श्रीनगर लौटने का निश्चय हुआ। श्रीगुरुदेव और उनके भतीजे श्री इन्दर जी रैणा एक कार में बैठे और श्री देवीजी और मैं दूसरी कार में। स्वामीजी वाली कार इतनी तेज़ चली कि मार्ग में कहीं भी उनसे भेंट न हुई। देवीजी को यह बात बहुत बुरी लगी। मार्ग में कहीं ज़रा भर प्रतीक्षा की जाती तो क्या होता। किन्तु वह गुरुदेव की इस क्रीड़ा का मर्म उस समय नहीं जान पाईं। मन ही मन इस बात को विचारती रहीं। इधर गुरुदेव लगभग एक घंटा पहिले आश्रम में पहुंच गए। वहां उपस्थित शिष्य और विशेषकर देवियों ने यह देखा कि श्री स्वामीजी अकेले ही आए हैं, देवीजी साथ नहीं हैं तो अतीव प्रसन्नता से फूली नहीं समा पाईं। मानवीय स्वभाव के कारण शिष्यजनों में प्रायः परस्पर स्पर्धा रहा करती है। यह स्पर्धा, महिला शिष्याओं में प्रायः अधिक मात्रा में हुआ करती है। सभी शिष्य लोग और विशेष करके सभी शिष्याएं अत्यन्त हर्ष विभोर होकर मचलने लगीं। गुरुदेव ने भी दूसरी कार के विषय में उनसे कुछ नहीं कहा। अतः सभी शिष्याएं बड़ा ही हर्षोल्लास मनाने लगीं। परन्तु उस

हर्षोल्लास का अन्त ठीक एक घण्टे बाद तभी हो गया जब देवीजी की कार आश्रम में पहुंच गई। गुरुदेव ने सभी शिष्यों और शिष्याओं को जल्दी भोजन करके वापिस अपने-अपने घरों को जाने का आदेश जो दे दिया तो अपना सा मुंह लेकर सभी नगर की ओर कारों में बैठकर लौट गये; यद्यपि वे सभी आश्रम में ही रातभर रहने के लिये आये थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल देवीजी ने नियमानुसार स्वामीजी महाराज को नाशता करवाया। नाशता करके गुरुदेव बरामदे में टहलने लगे। मैं वहीं बैठी थी। देवीजी अपने कमरे में न जाने क्या कर रही थीं। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए मुझ से कहा—'हम ने कल सभी शिष्यों के हृदयों की परीक्षा ली। हम जानबूझ कर एक घंटा तुम से पहिले ही आश्रम में पहुंचे। जब इन शिष्यों ने आप दोनों को हमारे साथ नहीं देखा तो खूब प्रसन्न हो गये। हमारे साथ स्नेह का प्रदर्शन करने लगे। पश्चात् जब आप दोनों को आते देखा तो इनके रंग में भंग हो गया। यह मूर्ख शिष्य यह समझते ही नहीं हैं कि भला हम शारिका देवी के बिना आश्रम में रह भी सकते हैं क्या? फिर यह कश्मीरी लोकोक्ति सुना दी—

"पैवन्द आदनुक छा शुर्यकारखान व्यसिये।"

अर्थात् "पेड़ की प्रारम्भिक आयु में कलम बान्धने का काम क्या बच्चों का खेल होता है।"

गुरुवर्य की इन बातों को सुनकर मैं अवाक् रह गई। मैंने मन ही मन गुरुदेव को प्रणाम किया और यह निश्चय हो गया कि देवीजी के प्रति उनकी उपेक्षा का व्यवहार बस एक खेल मात्र है जिससे देवीजी का पारमार्थिक कल्याण ही होता रहता है। इधर अन्य कई अल्पज्ञ शिष्यों को धोखा लगता रहता है। उनका केवल जी बहल जाता है, वास्तविक कल्याण नहीं होता है। देवीजी को भी अभिमान व प्रतिष्ठा का बोझ सवार नहीं होता। वैसे यदा-कदा देवीजी इस निम्न श्लोक को पढ़ा भी करती थीं :—

अभिमानं सुरापानं, गौरवं घोर रौरवम्।
प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा, त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

अर्थात्—देहाभिमान का होना साधक के लिए मदिरा पीने के समान है। अपनी जाति व कुल के गौरव का होना, रौरव नरक के समान दुःखद है। अपनी प्रतिष्ठा लोगों से करवानी सुअर की विष्ठा के समान अपवित्र है। इन तीनों विकारों से छूटा हुआ साधक ही पारमार्थिक सुख को प्राप्त करता है।

अस्तु, देवीजी भी स्वयं इस रूक्ष बाह्य व्यवहार को यदि किसी समय युक्त नहीं भी समझती थीं, फिर भी उनके अन्तस्तल पर इस बात का कोई गहरा प्रभाव कभी पड़ता ही नहीं था। उनकी गुरुभक्ति तथा गुरुसेवा पर कोई भी आंच नहीं आया करती थी। शुद्ध स्वर्ण की शुद्धता आग में तपने से ही निखर उठती है।

इधर देवीजी की सहनशक्ति, नम्रव्यवहार, गुरुभक्ति, सौजन्य तथा आध्यात्मिक प्रभाव से अधिक से अधिक शिष्य और कई एक शिष्यायें भी प्रभावित होती रहीं। कई शिष्याओं ने उनसे गुरु-मंत्र ग्रहण किया और वे उन्हें अपना गुरु मानने लग गईं। पुरुषों में भी कई एक देवीजी को अपना गुरु मानते थे। तथ्य तो यह है—देवीजी किसी को दीक्षा देने से पूर्व श्री गुरुवर्य से अनुज्ञा ले लेती थीं। गुरुदेव सहर्ष उन्हें शिष्य बनाने की अनुमति देते थे। वे स्वयं भी उनके शिष्यों से अति प्रेम और स्नेहपूर्वक व्यवहार करते थे।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है—श्री गुरुदेव पूर्व जन्म में भी सिद्ध योगी थे, तभी बाल्यकाल से ही वे परामर्श परायण रहते थे। वे शिव की विश्वसंचालिनी नीति के अनुसार इस जन्म में अनेकों ही पुरुषों और महिलाओं को शिव-मार्ग में प्रेरित करने के लिए इस संसार में जन्म लेकर प्रकट हुए थे। इस कारण से वे किसी भी शिष्य को दीक्षा देते समय उसके गुण-दोषों पर प्रायः विचार करते ही नहीं थे। जैसा कि भक्त सूरदास ने कहा है—

"पारस गुण, अवगुण नहि चितवत् कंचन करत खरो।"

सो, पारस रत्न की भांति महाराज जी भी गुण-अवगुणों पर ध्यान न देते हुए उपदेश दे ही देते थे। इस भांति ज्यों ज्यों श्री महाराज जी की कीर्ति एक महायोगी के रूप में फैलती गई, त्यों त्यों अनेकों पुरुषों और महिलाओं को उनसे उपदेश लेने की इच्छा होती गई।

शिष्यजनों में से श्री जानकीनाथ लाबरू और श्री जगन्नाथ जी कौल तो काफी समय तक श्री गुरुदेव के साथ ईशबर वाले आश्रम में रहते थे और सदैव ही स्वामीजी महाराज की अनुज्ञा में रहकर, देवी शारिकाजी के साथ ही पढ़ते रहे और आश्रम में रहकर दोनों महानुभावों की प्राणपन से सेवा भी करते थे। वे देवीजी का आदर हृदय से करते थे, उन्हें वह सत्य सन्त के रूप में दिखती थीं।

श्री रामेश्वर झा

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी के सम्पर्क में बीसों वर्ष रहते हुए मिथिला देश में रहने वाले अनेक शास्त्र-पारंगत विरक्त स्वभाव वाले एक विद्वान् श्री रामेश्वर झा गर्मियों में कभी-कभी कश्मीर आया करते थे। उन्हें जब ईश्वर-आश्रम में गुरुवर्य श्री ईश्वर-स्वरूप जी के प्रथम दर्शन हुए तो वे इतने प्रभावित हो गए कि मन ही मन स्वामीजी को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। फिर उनके दर्शनों के लिए बहुत बार ईश्वर-आश्रम आते रहे। अनेकों बार रविवारों की संगोष्ठी में प्रवचन भी देते रहे और कभी-कभी शैव-दर्शन के ग्रन्थों को भी पढ़ाते रहे। ये संस्कृत-व्याकरण तथा सांख्य शास्त्र के आचार्य थे। सच पूछिये तो सरस्वती देवी के विशेष पात्र थे। बैठे-बैठे संस्कृत कविता का स्फार इनके मुख से प्रस्फुटित होता था। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् श्री देवीजी के व्यक्तित्व से बहुत अधिक प्रभावित होते रहे। देवीजी के प्रति अपनी श्रद्धा को जतलाते हुए उन्होंने श्री देवीजी की एक स्तुति रचना सुन्दर संस्कृत श्लोकों में की। वह पुस्तिका "श्री शारिका देवी चर्चास्तवः" इस नाम से हिन्दी भाषानुवाद सहित ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के

द्वारा जनहितार्थ प्रकाशित हुई है इस स्तोत्र में विद्वान् कवि ने देवीजी के आध्यात्मिक महिमा का वर्णन सुन्दर कविता के माध्यम से किया है।

उनके बाद स्वामीजी महाराज का शिष्यत्व सैंकड़ों शिष्यों और शिष्याओं ने ग्रहण किया। यहां तक कि पाश्चात्त्य देशवासी कई व्यक्तियों ने भी जिन में महिलायें भी थीं, स्वामीजी महाराज को अपना गुरु मानकर, उनसे कई शैवी शास्त्रों को पढ़ा और अभ्यास भी सीखा। वे भी देवीजी का आदर तथा सम्मान करते रहे।



अध्याय-४

घोर बाधाओं के चक्र में

जब कलि देवता ने देखा कि परमेश्वर की निग्रह लीला का अभिनय करवाने के लिए उसने अनेकानेक प्रयत्न श्री देवीजी को अपने लक्ष्य से डिगा देने के लिए किये, किन्तु वह असफल रहा तो उसने एक नई चाल सोची। अकस्मात् ईश्वर-स्वरूप जी महाराज को मौन व्रत के दिन, हृदय में तनिक पीड़ा का भान हुआ। सभी शिष्यों ने मिलकर महाराज जी का निरीक्षण सुयोग्य डाक्टरों से करवाया। उन्होंने हृदय के रोग का इलाज करवाने और छाती के भीतर एक 'पेस मेकर' यन्त्र लगवाने के लिए दिल्ली जाने की सलाह दी। उस समय देवीजी ने बहुत आग्रह किया कि श्री गुरुदेव का ऐसा ऑपरेशन नहीं किया जाना चाहिए, न ही कोई मशीन इनके पवित्र शरीर के भीतर रखी जानी चाहिए। देवीजी को पूरा विश्वास था कि ऐसी ऐसी आसुरी चिकित्साओं के बिना ही श्री ईश्वर-स्वरूप जी अपने तपोबल और शिव-संकल्प से स्वस्थ हो जाएंगे। यह भी सम्भव है कि देवीजी के हाथ में कोई ऐसी युक्ति भी हो, जिसके प्रयोग से श्री ईश्वर-स्वरूप जी को स्वास्थ्य लाभ सहज में ही हो जाता। परन्तु "पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिराम् उन्मत्तभूतं जगत्।" देवीजी के सत्परामर्श को कौन सुनता। शिष्यजन तीव्र गुरुभक्ति का प्रदर्शन करते हुए, एक दूसरे की अपेक्षा अधिक अधिक मात्रा में हठपूर्वक यही सलाह देते रहे—श्री स्वामीजी को शीघ्र दिल्ली पहुंचा दिया जाए। देवीजी की सलाह को किसी ने नहीं माना। फलतः दिल्ली में श्री गुरुदेव का आपरेशन कराया गया और छाती के भीतर पेसमेकर फिट करवा दिया गया। इन दिनों श्री देवीजी, मैं तथा सेवक गोपीनाथ आश्रम में ही रहकर भगवान् शंकर से गुरुमहाराज के स्वास्थ्यलाभ की प्रार्थना करते रहे। लगभग दो मास के बाद स्वामीजी महाराज सकुशल कश्मीर लौट आए और ईश्वर आश्रम में सहर्ष रहते रहे।

नेत्र रोग की चिकित्सा

कुछ समय पीछे देवीजी की दाईं आंख में मोतियाबिन्द हो गया था। उन्हें नेत्र की चिकित्सा करवाने का विचार बार बार आया करता था। एक दिन देवीजी ने, गुरुवर्य के सामने जब यह चिन्ता प्रकट की तो वे बोले—प्रभु स्वयं कोई प्रबन्ध करेंगे। उनका वचन है—

"योगक्षेमं वहाम्यहम्"

तदनन्तर ऐसा संयोग हुआ कि पांच छः दिनों के बाद ही चण्डीगढ़ से नेत्ररोग की एक विशेषज्ञा डा० सुभद्रा जलाली आश्रम में देवीजी से मिलने आई। उसने भलीभांति नेत्र की परीक्षा की और चण्डीगढ़ में ऑपरेशन करने का प्रबन्ध करने की ज़िम्मेवारी ले ली। अगले शीतकाल में देवीजी जब श्री स्वामीजी के साथ जम्मू गई तो वहां से मुझे साथ लेकर चण्डीगढ़ जाने का प्रोग्राम बनाया। स्वामीजी महाराज स्वयं, दिल्ली चले गए। चण्डीगढ़ के, पी.जी. आई हस्पताल में डा० सुभद्रा जलाली और नेत्र-विभाग के वरिष्ठ डा० गुप्ता ने मिलकर देवीजी के नेत्र का ऑपरेशन कर दिया। देवीजी को ऑपरेशन के बाद ज़रा भर भी किसी वेदना का अनुभव नहीं हुआ। कुछ ही दिनों में नेत्र में प्रकाश पूर्ववत् आ गया। केवल दो ही दिन अहोरात्र शय्या पर लेटना पड़ा। तीसरे दिन हस्पताल में ही ठण्डे पानी से नहा कर शय्या पर बैठ गईं। उनके साथ के नेत्र-रोगी इन्हें बैठे हुए देखकर विस्मित हो गये। डा० गुप्ता ने जब आकर देखा कि थोड़े ही दिनों में देवीजी को पूरा स्वास्थ्य लाभ हुआ है तो उन्होंने देवीजी से कहा—आप में दैवी शक्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष है, तभी आप शीघ्र स्वस्थ हो गई हैं। फिर हम एक सप्ताह के बाद सकुशल जम्मू लौट आये।

जीवन के अन्तिम वर्ष

हमें अभी जम्मू में आए बीस ही दिन हुए थे कि गुरुदेव का फोन दिल्ली से आया—वे खटमण्डु जाने

वाले हैं और वहां अपने पाश्चात्य शिष्यों के साथ मिलने मिलाने का प्रोग्राम बन रहा है। साथ ही यह भी आदेश आया कि महाराज जी का जन्म दिन जो वैशाख कृष्ण पक्ष द्वादशी ई० सन् १९९० में आ रहा था, वह देवीजी के द्वारा जम्मू में मनाया जाए। अभी तक श्री स्वामीजी महाराज कभी भी अपने जन्म दिन पर देवीजी से विलग होकर नहीं रहे थे। अतः देवीजी को मन ही मन में आशंका होने लगी। उन्हें ऐसा आभास सा हो गया कि सम्भवतः अगले वर्ष के इस उत्सव पर वे इस संसार में नहीं होंगी। खैर, गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करके देवीजी ने यह दिन श्री मोतीलाल जी सोपोरी के यहां अति धूमधाम से मनाया। जम्मू में स्थित सभी शिष्य एकत्रित हो गए। श्री ईश्वर-स्वरूप जी के चित्र को फूलों से सुसज्जित करके, धूप, दीप, जलाये गये। देवीजी की अध्यक्षता में पूजा की गई और गुरु-स्तुति पढ़ी गई। महाराज जी के चित्र को ही देवीजी ने केसर का तिलक लगाया और नया यज्ञोपवीत पहनाया। सभी शिष्यों और आगन्तुक भक्तों ने प्रेम से भोजन का प्रसाद लिया। तदनन्तर देवीजी ने गुरु-चरणों को हृदय में स्मरण करते हुए अपने करुणामय हाथों से सभी को प्रसाद वितरण किया। सभी प्रसन्न होकर अपने अपने घरों को, देवीजी की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए लौट गये।

इधर स्वयं गुरुदेव ने इस वर्ष के जन्मोत्सव को सामान्य रूप से दिल्ली में ही मनाया। श्री स्वामीजी का नया सौर वर्ष ७ मई ई० सन् १९९० को आने वाला था। वे चाहते थे, श्रीनगर जाकर इसे मनाएं, परन्तु दिल्ली के शिष्यवर्ग महाराज जी की इस उत्कट इच्छा के सामने कश्मीर की कुपरिस्थिति के मिस से रोड़ा अटका रहे थे। हार कर महाराज जी भी उनके चंगुल में फंसकर चुप हो गए।

ऐसी विषम स्थिति में श्री ईश्वर-स्वरूप जी ने दिल्ली से देवीजी को जम्मू फोन किया कि तुम दोनों देवियां दिल्ली आ जाओ। आज्ञा पाते ही हम दोनों दूसरे दिन ही दिल्ली चली गईं। दिल्ली के स्टेशन पर हमें लेने के लिए डा० सुधीर सोपोरी उपस्थित थे। हम उनके साथ नेहरू विश्वविद्यालय की ओर चल पड़ीं। ये महानुभाव एक प्रोफेसर थे अतः

हम दोनों उनके पास ही रहे। रात को विश्राम करके हम तीनों श्री गुरुदेव के शुभ-दर्शन करने के लिए कालिका जी गये। स्वामीजी महाराज अपने भक्त श्री कैप्टिन काचरू जी के पास कालिका जी में रह रहे थे। महाराज जी के कमरे में अनुज्ञा लिए बिना कोई व्यक्ति प्रवेश नहीं कर पाता था। किन्तु देवीजी किसी की अनुज्ञा लिए बिना ही बेधड़क भीतर चली गईं वहीं, जहां श्री ईश्वर-स्वरूप जी शव आसन में लेटे हुए थे। हम दोनों ने खड़े खड़े चुपचाप होकर प्रणाम किया तो श्री ईश्वर-स्वरूप ने अपने मुख पर से हल्की सी मलमल की चादर को हटा लिया, जिसे वे ओढ़े हुए थे। उस समय महाराज जी का मस्तक तथा नेत्र दर्शनीय थे। माथे पर चन्दन का लेप किए हुए, नेत्रों में एकाग्रता के प्रभाव से लालिमा की छवि की छटक देखते बनती थी। सामने देवीजी को देखकर हर्ष विह्वल हो गये और शारिका शारिका कहकर उठ बैठे। देवीजी ने नत मस्तक होकर पुनः प्रणाम किया। जम्मू में मनाये गए जन्म-दिवस के उत्सव की भेंट रुमाल, इलायची बादाम आदि महाराज जी के चरणों में रखे। गुरुदेव ने भगवान् कृष्ण की भांति सुदामा के स्नेह-सिक्त कुछ बादामों की गिरियों को मुख में डाला और रुमाल को जेब में रख लिया। बस यह अन्तिम जन्मदिन था, जिसे देवीजी ने धैर्यपूर्वक निभाया था।

थोड़ी देर के बाद श्री गुरुदेव ने अपने भक्त कैप्टिन काचरू जी से कहा कि हम सभी इन दोनों देवियों को लेकर लोटस टेम्पल जायेंगे। एक दो कारों में सभी उस ओर चल पड़े। वहां के सुशीतल वातावरण में एक रमणीक स्थान पर गुरुदेव बैठे और हम दोनों को अपने सामने बिठाया। तदनन्तर उस मन्दिर की और वहां के शीतल, शान्त वातावरण की जब प्रशंसा करने लगे तो देवीजी बोलीं, "महाराज जी, यह तो कारीगरों द्वारा बनाया हुआ मन्दिर है। हमारा तो यह अपना देह-मन्दिर ही सर्वोत्तम देवालय है। हम चाहें तो सभी सन्तापों को दूर भगाने वाली आध्यात्मिक सुप्रशान्त, प्रभावशाली शीतलता का भी इसमें अनुभव कर सकते हैं।" यह सुनकर गुरुवर्य हंस पड़े और कहा—"तुम तो सदा अन्तर्मुख अवस्था पर टिक कर ही विचार किया करती हो। तभी बाह्य

संसार का बहिर्मुख वातावरण तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं पाता है।" इस भांति थोड़े समय के बाद हम सभी वहां से चल पड़े। उस दिन से गुरु महाराज के आदेशानुसार हम दोनों अपने नाती डा० सुधीर जी के साथ प्रतिदिन स्वामीजी महाराज के दर्शन के लिए कालिका जी जाते रहे।

तदनन्तर दिल्ली में स्थित शिष्य जनों के द्वारा, स्वामीजी के पुनः कश्मीर जाने के प्रति यद्यपि बहुत अधिक विरोध किया जाता रहा, फिर भी देवीजी ने उनके भीतरी उत्साह को इतना तीव्र बनाया कि किसी की भी न मानते हुए ३-५-१९९० को श्रीनगर जाने का निश्चित प्रोग्राम बना ही लिया। महाराज जी के साथ उनके दो और शिष्य भी जाने को तैयार हो गए। वायुयान द्वारा यात्रा करके साढ़े पांच बजे हम सभी अपने आवास स्थान ईश्वर-आश्रम पहुंच गये। वहां के एकान्त वातावरण की शीतलता के साथ आध्यात्मिक शान्ति के अलौकिक प्रभाव से भी आह्लादित हो गए। पूज्यपाद गुरुदेवजी ने और देवी शारिकाजी ने मानो अपने खोये हुए साम्राज्य को पुनः पा लिया। देवीजी तुरन्त ही चाय आदि बनाने की सेवा में जुट गईं। यह श्री ईश्वर-स्वरूप जी और देवीजी की अन्तिम सह-यात्रा थी।

सात मई का दिन आया। जम्मू से केवल सात भक्तजन ही आ पाये। देवीजी ने विधिपूर्वक महाराज जी की पूजा की। अपने हाथ से उन्हें केसर का तिलक लगाया। बहुत कम, इने गिने शिष्यजन उपस्थित थे। ऐसी भयावह स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए गुरुदेव ने कहा—"प्रलयकालीन मेघ चारों ओर मंडला रहे हैं। कलियुग का अन्त होने वाला है। अतः जन-संहार हो रहा है और कई वर्ष होता रहेगा। केवल प्रभु का भजन करो तभी जीने की आशा बनेगी। इसी भांति वर्तमान काल की निराशा और भविष्यत् की आशा के विचारों में वहां समय बीतता रहा।

अध्याय-५

जीवन के चरम दौर में आतंक-ग्रस्त कश्मीर

ई० सन् १९८९ में कश्मीर मंडल की प्रशासनिक परिस्थिति में भयंकर उथल पुथल के आसार दिखाई देने लगे। विदेशी शत्रुओं के द्वारा चलाई गई हिंसक कूट-नीति के दुष्परिणाम अपना काला चेहरा दिखाने लगे। राज्य सरकार के प्राशासनिक ढांचे में ऊपर से नीचे तक विद्रोह की चिंगारियां प्रकट होने लगीं। भारत के हित में लगे हुए कई एक प्रभावशाली नेताओं और प्राशासनिक महानुभावों को या तो दिन दहाड़े मारा जाने लगा या भयभीत करके भगाया जाने लगा। सन् १९९० में विद्रोहियों की ऐसी गति विधियां पर्याप्त बल पकड़ती गईं। भारत का हित चाहने वाली जनता अपने को असहाय समझने लगी। वह जनता यह अनुभव करने लगी कि कश्मीर में न तो उनकी प्राण रक्षा का और नही सम्पत्ति-रक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध निकट भविष्य में हो सकेगा। अतः अनेकों ही पंडित जन कश्मीर से भाग निकले। वे जम्मू, दिल्ली, ऊधमपुर आदि नगरों में इस विचार से शरण लेने लगे कि कुछ महीनों के पश्चात् जब कश्मीर में अराजकता शान्त हो जाएगी, तो पुनः अपने अपने घरों को लौट जाएंगे। परन्तु वह अराजकता अभी तक चल ही रही है। इस तरह से कश्मीर के पंडित जो सदियों से यहां रह रहे थे, कालचक्र की लपेट में आकर अपने देश में ही शरणार्थी बनते गए।

हमारे प्रातः स्मरणीय गुरुदेव परमेश्वर-तन्मयता के आवेश में आते हुए रात-दिन यही प्रभु से प्रार्थना करने लगे कि किसी तरह से यह अंशतः आई हुई और शेषतः आने वाली आपदा टल जाए। वे सन् १९८९ के अपने जन्म के उत्सव पर आई हुई जनता की भीड़ को हाथ जोड़ कर चेतावनी देने लगे कि आगे भयङ्कर उपद्रव आने वाला है। उससे बचने के लिए तुम सभी मांस खाना छोड़ दो। यदि ऐसा करोगे तो संभव है भगवान् रक्षा का कोई उपाय कर ही देंगे। परन्तु मदान्ध जनता

सत्पुरुषों के सत्परामर्श को कहां मानती है। लोगों ने महाराज जी के आदेश को एक कान से सुना और दूसरे कान से उसे दूर फेंक दिया। हमारे पूर्वज मांस खाया तो करते थे। हम आगमिक देवगणों को भी मांस की बलि यदा-कदा देते ही रहते थे। परन्तु जिस मांस का प्रयोग हम किया करते थे वह भक्ष्य मांस होता था, निषिद्ध मांस नहीं होता था। एक सौ वर्ष वाले डोगरा शासन में गोवध कश्मीर में निषिद्ध था। कानून की पुस्तकों में अब भी गोवध को निषिद्ध कोटि में ही गिना जाता है। किन्तु प्रजातन्त्रीय शासन के आने पर वह कानून निर्जीव बनता गया। कभी भी किसी पोलीस अधिकारी ने या न्यायाधीश ने उस कानून को जीवित रखने का साहस नहीं किया, जनता के नेताओं के भय से। अतः मांस विक्रेता भी धीरे-धीरे इस विषय में अनुशासनहीन होते गये। उधर कांग्रेसी संस्कृति के प्रभाव से ब्राह्मण और यवन एक साथ खाना खाने लगे। धीरे-धीरे ब्राह्मण और उनकी स्त्रियां भी निःसंकोच होकर यवनों की शादियों में भी भाग लेने लगे। अभी तक हमारे देश के प्राचीन सिद्ध योगी स्वर्गलोकों में रहते हुए हमारी संस्कृति की और प्राणों आदि की रक्षा के विषय में हस्तक्षेप करते हुए इस घोर कलिकाल में भी हमारी रक्षा का प्रबन्ध करवाते रहे। परन्तु अब जो उन्होंने यह देखा कि उनके ये वर्तमान वंशज गोमांस के भक्षण से भी परहेज़ नहीं करते तो उनकी हमारे प्रति सारी दिलचस्पी समाप्त हो गई। उसके फलस्वरूप हमें कलिकाल की घोर लीलाओं का सामना करना पड़ा। अपने भारत देश में ही शरणार्थी बनकर भटकना पड़ा। प्रसंग वश हमने यहां की पुरानी परिपाटी को स्मरण कराते हुए कहा कि यहां तन्त्रमार्गीय कर्मकाण्डी ब्राह्मण मांस-भक्षण किया करते थे, किन्तु यह कर्म सर्वथा शास्त्रविहित नहीं है। हमारे श्री गुरुदेव मांस-भक्षण के कट्टर विरोधी थे। निरीह प्राणी का वध करना घोर पाप है। इसी सिद्धान्त को समक्ष रखते हुए हमारे गुरुवर्य ने जनता को आदेश दिया था कि तुम मांस खाना छोड़ दो। बहुत संभव है यदि हमारे लोगों ने श्री स्वामीजी की आज्ञा का पालन करते हुए मांस-भक्षण छोड़ दिया होता तो शायद हम इस घोर आपदा से बचे ही रहते। अस्तु कलि-लीला ने इस घोर दृश्य को दिखाना था, सो दिखा

ही दिया।

उधर श्री ईश्वर-स्वरूप जी रात दिन प्रभु से अनुनय विनय करते रहे कि इस भयावह स्थिति का शीघ्र ही अन्त हो जाए। जनता से बार-बार कहते रहे—जो प्रभु की शरण में रहेगा उसकी रक्षा प्रभु अवश्य करेंगे। जो प्रभु-भक्ति नहीं करेंगे वे गाजर मूली की तरह कटते जाएंगे। फिर हुआ भी वैसा ही। सारे कश्मीर मंडल में बन्दूक धारियों का बोल बाला छा गया। लाखों हिन्दू और सहस्रों सभ्य मुसलमान भी कश्मीर से भाग निकले। ऐसी विषम स्थिति में श्री ईश्वर-स्वरूप जी हम दोनों को साथ लेकर जम्मू की ओर चल दिए। कार चलाने वाला पाश्चात्य देशवासी अंग्रेज़ था। वह भी इसी बहाने जम्मू आ गया। वहां पहुंचने पर श्री देवीजी और मैं अपने भ्राता श्री मोतीलाल जी के पास गांधीनगर में ठहरे। यद्यपि साथ ही श्री स्वामीजी के भ्राता श्री भगवानदास जी का मकान भी था, जहां स्वामीजी महाराज आके रहते भी थे, सबों के अनुनय विनय करने पर भी महाराज जी ने वहां रहना किसी कीमत पर भी नहीं माना। फिर गुरुदेव उस अंग्रेज़ सेवक के साथ 'एशिया होटल' गांधीनगर में ठहरे। वहां तीन दिन और तीन रातें बिना कुछ खाये पिये भावावेश में बिता दीं। चौथे दिन प्रातः उस सेवक को देवीजी के पास यह सन्देश लेकर भेजा—खाना बनाकर होटल में ही भेज दिया जाए। देवीजी ने तुरन्त चाय तथा भोजन तैयार किया और श्री गुरुदेव को खिलाने एशिया होटल गईं। कमरे में प्रविष्ट होने पर स्वामीजी महाराज ने करुणा भरी दृष्टि से देवीजी की ओर देखते हुए कहा—"हमने गत तीन दिनों में इन आततताइयों को खूब मारा है। परन्तु कश्मीर की परिस्थिति को ठीक होते होते अभी पूरे तेरह वर्ष लगेंगे। इन वर्षों में जनता बहुत संख्या में मारी जायेगी, क्योंकि कलियुग का अन्त होने वाला है और सत्ययुग का आरम्भ होगा, फिर निगमों और आगमों की संस्कृति को प्रतिष्ठा मिलेगी।" गुरुदेव की इस भविष्य वाणी को सुनकर देवीजी मौन ही रहीं। सम्भवतः वह भी ऐसे भविष्य को स्वयं जान चुकी थीं। उन्हें चौदहवें वर्ष की आशा में टिके रहने के प्रति तनिक भी अभिलाषा नहीं हुई। गुरुमहाराज को खाना

खिलाकर गांधीनगर लौट गई।

इधर श्री ईश्वर-स्वरूप जी पुनः भावावेश में आ गए। उसी सेवक से कहा—किसी को भी भीतर आने न देना। अगले दिन देवीजी गुरु-आज्ञानुसार प्रातः चाय लेकर होटेल में पहुंच गईं। किन्तु उस उद्दंड, मूर्ख सेवक ने उन्हें भीतर आने ही नहीं दिया। उसने श्री देवीजी को श्री स्वामीजी से तनिक भी मिलने नहीं दिया और धक्का सा देकर द्वार बन्द कर दिया। देवीजी और मैं विवश होकर घर को लौट आईं। देवीजी ने इस असभ्य नौकर के व्यवहार पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि बिना परीक्षा किए किसी को भी निकट का सेवक बनाना बड़ी भूल है। न जाने यह सेवक श्री गुरुदेव को ममत्व का प्रदर्शन करके कब किधर ले जाएगा, जब हम इस संसार में नहीं होंगे। उनका यह कथन अक्षरशः जल्दी ही सत्य निकला जब आगे यह नौकर श्री स्वामीजी को अमेरिका तब ले गया जब देवीजी शिवलोक को सिधार गई थीं। उधर श्री गुरुवर्य ज्योंही भावावेश से व्युत्थान भूमिका पर उतर आए तो सेवक से पूछा—देवीजी क्यों नहीं आईं? सेवक चुप रहा और अपनी करनी पर लज्जित हुआ। पर अब क्या करता। ईश्वर-स्वरूप जी ने उससे मोटर कार को बाहर निकलवाया और उस में बैठकर श्री देवीजी से मिलने के लिए उनके घर पहुंचे। श्री देवीजी ने गुरुदेव को आते देखा तो झट उनके पास आ गईं। उस समय श्री स्वामीजी ने अपना करुणापूर्ण वरद हाथ उनके मस्तक पर रखते हुए कहा—यह सेवक उद्दण्ड है। मैं भीतर ही सुन रहा था—इसने तुम्हें रोकते हुए क्या क्या कहा। यह ज्ञानहीन मूर्ख क्या जाने कि स्वयं प्रभु के बिना कौन मेरी परम शिष्या को मुझ से अलग कर सकता है। सायंकाल को आप भोजन लेकर अवश्य आना। गुरु और शिष्य की पारस्परिक बातों को सुनकर वह सेवक लज्जित सा हुआ और यही उसने समझ लिया—यह दिव्य संबन्ध अलौकिक है। इसे कोई भी मानव वियुक्त करने में समर्थ नहीं है।

जम्मू में दस पन्द्रह दिन ठहर कर हम तीनों (ईश्वर-स्वरूप जी, देवीजी और मैं) श्रीनगर आश्रम में आ गए। आश्रम में गुरुदेव ने एक

सुन्दर यज्ञशाला का निर्माण आरम्भ कर दिया। देवीजी ने इस कार्य को निरर्थक ठहराते हुए, ईश्वर-स्वरूप जी से कहा—मैं तो शिवरात्रि के महोत्सव पर यहां होऊंगी ही नहीं। यह सुनते ही श्री गुरुदेव बोले—जहां जाने के लिए तुम्हारा संकेत है, वहां तो हम पन्द्रह वर्ष के बाद जाएंगे। देवीजी ने उत्तर देते हुए कहा—"मेरे पास अब समय नहीं कि मैं आप की प्रतीक्षा करूं। आप तो जगदानन्द का अनुभव विश्व के व्यवहार में कर रहे हैं किन्तु मैं उस आनन्द के चमत्कार को अपने ही भीतर देखना चाहती हूं।"

पारमेश्वरी लीला में जब बन्धनकारिणी माया के दृश्यों का अभिनय होता है, तो ऐसी ही घटनायें घटती हैं। परन्तु जो भक्त, बन्धन-लीला के इन मायामय जालों में फंसने ही नहीं पाए, उसके लिए ब्रह्माण्ड के सूत्रधार भगवान्, श्रीकण्ठनाथ नाट्य-लीला के ऐसे दृश्यों का शीघ्र ही अन्त करते हुए अनुकूल दृश्यों का अभिनय करवाने लग जाते हैं। जब भगवान् का सच्चा भक्त, संसार से सत्यतः पीछा छुड़ाना चाहता हो तो भगवान् उसके हित के लिए उसके मनोनुकूल ही व्यवस्था बना देते हैं। देवीजी के साथ भी यही घटना घटी।

शरीर शैथिल्य

ई० सन् १९९० का शीतकाल आया। देवीजी का शरीर अतीव शिथिल हो गया था। अतः विचार किया जाने लगा कि जम्मू को चला जाए। परन्तु श्रीगुरुवर्य ने सुझाव दिया—हीटर और बुखारी का प्रबन्ध करते हुए शीतऋतु आश्रम में भी सुखपूर्वक कट जाएगी। देवीजी कहने लगीं कि मेरा शरीर अब बहुत ढीला पड़ गया है। उत्तर देते हुए श्री गुरुदेव बोले—मेरे सामने काल भैरव फटकने का साहस नहीं करेगा। फिर साथ ही यह बात भी कही—यदि उसने अपना काम करना होगा तो क्या जम्मू में नहीं कर सकेगा। तो इसी तरह दिन कटते गये।

यक्ष अमावस्या के दिन देवीजी ने स्वयं खिचड़ी बनाई और गुरुदेव को खिलाई। माघ का महीना आया देवीजी कहने लगीं—यदि हरद्वार

जाते तो गंगा स्नान करते हुए ये शीत के दिन कट जाते। मैंने कहा—यहां तो गुरुवर्य का वरद हस्त आप के सिर पर है। अतः यहीं ठहरने में कल्याण होगा। देवीजी ने कहा—गुरुचरणों में शास्त्रानुसार बारह वर्ष तक ही रहना प्रमाण माना गया है, किन्तु मैंने चौंसठ वर्ष का सारा जीवन उसी व्रत को निभाते हुए व्यतीत किया। यह ठीक है—गुरु अपने शिष्य को कुम्हार के घड़े की तरह चोट लगा लगा कर उसमें से खोट निकाल लेता है, परन्तु अब तो हमारे इस शरीर रूपी घड़े की ऐसी अवस्था आ गई है कि चोट लगने से यह टूट ही जाएगा। यह तो प्रभु की अनुकम्पा है जो दिन निकल रहे हैं।" हम दोनों का यह वार्त्तालाप चल ही रहा था—स्वामीजी महाराज ने हम दोनों को बुलाया। उनके कमरे में पहुंचने पर श्री गुरुदेव ने अपने सफेद रंग का चोला (फिरन) देवीजी को पहना दिया और उन्हें खड़े रहने का संकेत किया। उनका हाथ पकड़ कर उनके साथ नृत्य करने लगे। मैं मन्त्रमुग्ध होकर यह अलौकिक क्रीड़ा देख रही थी। दोनों पराकाष्ठा के गुरुदेव और शिष्य विश्व के नश्वर रूप को देखकर ही मानो नृत्य कर रहे थे। ई० सन् १२-१-१९९१ को यह घटना घटी थी। देवीजी ने उस चोले को प्रसन्नता पूर्वक पहन लिया। साड़ी को छोड़ कर, चोले के ऊपर अपना गर्म फिरन पहना और सिर पर ऊन की टोपी पहन ली। उस समय इस रूप में वह साक्षात् देवी सी लग रहीं थीं। मैंने पूछा—आप चुप क्यों हैं? बात क्यों नहीं करतीं—उत्तर मिला—अब बातें बन्द हो गईं। क्यों बन्द हो गईं? ऐसा पूछने पर उनके नेत्र बन्द हो गए और वह समाधिस्थ हो गईं। थोड़ी देर के बाद गुरुदेव ने उन्हें जब हल्के से झंझोटा तो बोलीं—"मैं अलौकिक आनन्द में हूं। अब मुझे इसी अवस्था में रहने दीजिए।" ऐसा कहकर देवीजी को फिर अपने शरीर की सुध बुध ही नहीं रही। घंटों सजग अवस्था में लेटी रहने लगीं। खाने पीने तथा नहाने धोने में भी दिलचस्पी नहीं रही। पूछने पर उत्तर यही देती रहीं—मैं तो आत्मज्ञान के सागर में नहा आई। मुझे जल-स्नान की कोई आवश्यकता नहीं। मैंने उन्हें हाथ मुंह धुलाया फिर यत्नपूर्वक खड़ा करके आसन पर बिठा दिया और चाय स्वयं पिलाई। तदनन्तर ज्योंही गुरुदेव ने बुलाया तो बड़ी कठिनाई से उनके कमरे तक गईं और

भावावेश में ही महाराज जी के सामने खड़ी हो गई। इनकी ऐसी अवस्था को भांपते हुए उन्होंने कहा कि आज शारिकाजी मेरे निकट ही भोजन करेंगी। मेरे पास ही इनका आसन लगा दो। ऐसा किए जाने पर ईश्वर-स्वरूप जी ने उनका हाथ पकड़ कर उन्हें आसन पर बिठा दिया। मैंने हाथ धोने के लिए पानी डाला तो श्री गुरुदेव ने अपने हाथ से ही उनके हाथ धुला दिये। मैं ऐसे अपूर्व व्यवहार को देखकर जब आश्चर्यचकित हो गई तो गुरुवर्य बोले—इनकी स्थिति इस समय ठीक ईश्वर साहिब (जो श्री राम जी के चाचा थे) जैसी है। इन दिनों इनकी जितनी सेवा करोगी, उतना पुण्य कमाओगी। सभी शिष्यजन इस लीला को देखकर विस्मित हो रहे थे।

भोजन करने के पश्चात् मैंने जब पूछा कि आप अब किस अवस्था में ठहरी हैं तो वह बोलीं—मुझे स्वयं समझ नहीं आता मुझे क्या हो रहा है। मैं तो मानो एकदम किसी आनन्द-सागर में डूबती जा रही हूं। शरीर की शिथिलता का मुझे तनिक भी आभास नहीं है। तब मैंने यह सुझाया कि मैं भ्राता श्री मोतीलाल जी को जम्मू फोन द्वारा सूचित करूंगी कि वह जल्दी यहां आ जाएं और आप को जम्मू ले जाएं, विशेष चिकित्सा के लिए। मैंने दूसरे दिन ही स्वामीजी महाराज का परामर्श लेकर जम्मू फोन किया। तीसरे दिन सायं छः बजे श्री मोतीलाल जी और बहिन शीला जी आश्रम में पहुंचे। सर्दी के दिन थे। हिमपात हो रहा था। इन्हीं के साथ वाराणसी से बेटिना जी नाम की स्वामीजी की पाश्चात्त्य महिला शिष्या भी दर्शन करने आई थीं। तीनों ने देवीजी की शारीरिक अशक्तता को देखा तो घबरा गये। देवीजी बुखारी के पास बरामदे में बिस्तरे पर ध्यानमग्न अवस्था में लेटी थीं। थोड़ी देर के बाद उन्होंने आंखें खोलीं तो तीनों की ओर निहारा और प्रसन्नता की मुद्रा में फिर नेत्र बन्द किये। सायं होने पर उन्हें आसन पर बिठा करके रखा गया और मैंने उन्हें भोजन खिलाया। देवीजी ने संकेत से दही लेने की इच्छा प्रकट की तो मैंने दही खिलाया। दो दिन इसी रूप में देवीजी रहीं। फिर निश्चय यही हुआ कि इन्हें श्री मोतीलालजी के साथ जम्मू भिजवा दिया जाए। गुरुदेव ने भी

कहने सुनने पर इस प्रस्ताव की स्वीकृति दे ही दी। उन्होंने यह भी आदेश दिया कि सभी आश्रमवासी आज से तीन दिन व्रत रखेंगे। माघ पूर्णमासी के उपलक्ष्य में। श्री मोतीलाल जी और बहन शीला जी को भी व्रत रखने का आदेश दिया, क्योंकि वे देवीजी को लेकर जम्मू जा रहे थे।

महा-प्रस्थान

२९ जनवरी १९९१ माघ शुक्लपक्ष चतुर्दशी मंगलवार को प्रातः मैंने देवीजी को हाथ मुंह धुलाया, कपड़े पहनाये और कहा आप अब जम्मू जा रहे हैं। देवीजी ने सजग नेत्रों से मुझे निहारा, हल्की सी मन्द मुस्कान से मेरे हृदय को मानो सान्त्वना दी। स्वामीजी महाराज उनके कमरे में प्रविष्ट हुए। देवीजी ने सनम्र प्रणाम मात्र किया। कुछ बोली नहीं। इतने में स्वामीजी महाराज के पाश्चात्त्य सेवक ने देवीजी को स्वामीजी की अनुज्ञा लेकर गोदी में उठाया और कार में बिठा दिया। हम सभी पीछे-पीछे आ रहे थे। श्री ईश्वर-स्वरूप जी ने अमृतेश्वर भैरव मन्दिर के द्वार को खोल दिया। देवीजी ने कार में बैठे बैठे ही भैरवनाथ को सदा के लिए नमस्कार किया। इस के बाद गुरुदेव ने देवीजी को कार में ही दर्पण दिखाया और कहा—यही शारिका देवी है। इसी स्वरूप का ध्यान करती रहो और सजग रहो। कार धीरे-धीरे हवाई अड्डे की ओर चलने लगी। श्री स्वामीजी महाराज और मैं कार के पीछे पीछे सड़क तक आये। वहां पर देवीजी ने पुनः नतमस्तक किया और हम सबों को सदा के लिए छोड़कर कार तेज़ी से निकल गई। गुरुदेव और मैं सड़क से आश्रम की ओर देवीजी की पुण्य स्मृति को हृदय में रखकर आये। जम्मू पहुंचने पर सभी स्नेही और श्रद्धावान् महानुभाव देवीजी के दर्शन के लिए गांधीनगर उनके भाई के घर आए। डाक्टर को बुलाया गया और देवीजी की चिकित्सा की जाने लगी। देवीजी ने डाक्टर से स्पष्ट शब्दों में यही कहा—उन्हें कोई तकलीफ नहीं है। डाक्टर के आदेश के अनुसार उन्हें नाक के द्वार से "पाइप" के द्वारा दूध और फलों का रस पिलाया गया, क्योंकि उन्हें खाने पीने की इच्छा ही नहीं रही थी।

उधर श्रीनगर वाले ईश्वर-आश्रम के कमरों की सफाई की जाने लगी, आने वाली शिवरात्रि के निमित्त से। श्री गुरुदेव तो देवीजी की पुस्तकों को आग में अर्पण करने लगे; मैंने जब इसका कारण पूछा तो कहने लगे—देश में घोर उपद्रव होगा। यहां पढ़ने वाला ही कोई नहीं रहेगा, तुम अकेले कैसे इतनी पुस्तकों को सुरक्षित रख सकोगी। इतना कहकर महाराज जी ने 'पाइप' लगाकर सभी कमरों और दहलीज़ों को अपने हाथ से धो डाला। इधर रात्रि के ठीक दो बजे भयानक भूचाल आया तो श्री स्वामीजी ने मुझे बुलाकर कहा—"न मालूम शारिका का क्या हाल होगा" मैंने अति कातर स्वर में उन्हें देवीजी के स्वस्थ होने के लिए आशीर्वाद की प्रार्थना की तो वे बोले—'इतनी ममता नहीं रखनी चाहिये। जो जन्म लेता है, उसे तो अपने समय पर जाना ही है।' यह उत्तर सुनकर मैं निराश हो गई और समझ गई कि देवीजी हम सभी को छोड़कर शिवलोक को चली जायेंगी। दिनभर आश्रम का काम काज करके जब मैं देवीजी के कमरे में ही लेट गई तो नींद नहीं आई। प्रातः पांच बजे ज्योंही मैं गुरुदेव का दर्शन करने उनके कमरे में जाने लगी तो आश्रम के बगल में रहने वाले दो शिष्यों ने द्वार खटखटाया। भीतर आते ही उन्होंने कहा—जम्मू से फोन आया है—देवीजी रात के तीन बजे महाप्रयाण कर गई हैं। यह सन् १९९१ फाल्गुण कृष्ण पक्ष की तृतीया थी। श्री गुरुदेव ने इन्हीं दो शिष्यों से कहा—जम्मू फोन द्वारा सन्देशा भेजो कि देवीजी के शरीर का अन्तिम संस्कार तब तक न किया जाए, जब तक हम स्वयं जम्मू नहीं पहुंचेंगे। इधर मैं, हतोत्साह होकर गुरु-चरणों में अपनी मनस्विनी आदर्शभूता बहिन के लिए बिलख-बिलख कर रोने लगी। श्री ईश्वर-स्वरूप जी ने सान्त्वना देते हुए उसी समय कहा—तुम्हें काफी धैर्य और ढाढस से काम लेना है। ज्ञानवान् रोया नहीं करते, अपितु संसार से विरत होकर प्रभु में रत रहते हैं। यह कहकर गुरुदेव जम्मू जाने के लिए उद्यत हो गये। मैं तथा और दो शिष्य भी संग थे। वायुयान साढ़े दस बजे चला और स्वामीजी तीनों के समेत सवा ग्यारह बजे गांधीनगर श्री मोतीलाल जी के घर पहुंचे। वहां तो लोगों की भीड़ लगी हुई थी। देवीजी का शरीर अन्तिम विश्राम ले रहा था। श्री स्वामीजी

ने महिलाओं का रोना धोना बन्द करा दिया और उन्हें सचेत करते हुए कहा—इस दिव्य आत्मा के लिए रोना उचित नहीं है। यह कहकर सभों को आदेश दिया—"**ॐ जुं सः अमृतेश्वर-भैरवाय नमः**" इस मन्त्र का जप करते जाओ।" तब सस्वर मन्त्र जाप की ध्वनि चारों ओर गूंजने लगी। ईश्वर-स्वरूपजी ने देवीजी के सम्मुख ताण्डव नृत्य की भांति नृत्य किया। सात सौ के नोटों की माला को उनके गले में पहना दिया। फूलों की मालाओं से शव शरीर को स्वयं सजाया। एक सुन्दर विमान को बनवा कर उसे फूलों से सजाया। एकत्रित लोगों को 'लिमका' पिलाकर बाद में चाय के साथ सिंघाड़े का हलुआ भी खिलाया। देवीजी के मृत शरीर पर खूब सैन्ट छिड़की तब फिर उन्हें उस सजे हुए विमान (अर्थी) पर लिटा दिया गया। श्री ईश्वर-स्वरूप जी ने स्वयं उनके शरीर पर फूलों की वर्षा की। जप की ध्वनि से सारा मण्डप गूंज उठा। मैंने मन्द स्वर में गुरुदेव से कहा—"भगवन्! सूर्य अस्त होने वाले हैं, अतः अब अर्थी को निकालने में विलम्ब हो रहा है। स्वामीजी बोले—"देखो श्री शारिकाजी आजन्म ब्रह्मचारिणी रही हैं। अतः इनके शरीर को सूर्य की किरणें भी नहीं स्पर्श करनी चाहियें। इसीलिए हम देर कर रहे हैं। साढ़े सात बज रहे थे—देवीजी के पवित्र विमान को भक्त-जनों ने कन्धों पर उठाया और चलने लगे। उस समय श्री गुरुवर्य ने देवीजी के हाथ के साथ हाथ मिलाते हुए कहा—"जाओ मनस्विनी देवी! हम भी छः महीने के बाद उधर ही आ रहे हैं।" तब विमान अर्थी को ले जाया गया। मैं आतुर होकर नंगे पांव ही एक कार में बैठ कर शवयात्रा के साथ चल पड़ी। श्मशान में देवीजी के शव शरीर की पूजा विधिवत् की गई। उनके तपस्वी शरीर को चिता पर रख दिया गया। क्षणों में दिव्य ज्योति परिपूर्ण ज्योति के साथ मिलकर एक हो गई। देखते-देखते शवशरीर भस्म हो गया और सभी लोग दिव्य देवी की पुण्यस्मृति को लेकर घर लौट आये। घर पहुंचने पर जब मैं गुरुदेव के चरणों में अपनी मनस्विनी बहिन को सदा के लिए छोड़कर उपस्थित हो गई तो वे बोले—"देखो, स्मरण रखो, शारिकाजी की आत्मा सदा अमर है। उनके त्याग, तपस्या, सहनशीलता, गुरुसेवा, अभ्यास-परायणता, जनता के साथ अरति और अलोलुपता

आदि गुण स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। वह साधारण मानव नहीं थीं। उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, अपितु उन का ध्यान करना चाहिए। यही हमारा आदेश है।

और्ध्वदैहिक क्रिया-कलाप

श्री गुरुदेव के आदेश के अनुसार भ्राता श्री मोतीलाल जी ने माता मानकर देवीजी का सारा और्ध्वदैहिक क्रियाकलाप विधिपूर्वक और श्रद्धापूर्वक किया। दस दिन तो लोग दिन भर आते ही रहे और स्वामीजी के वचनामृत को पीते रहे। शामियाने के नीचे सुन्दर मण्डप ग्यारह दिन सजा रहा। वहां एक सजे हुए मंच पर स्वामीजी महाराज ठीक भगवान् शंकर की भांति बैठकर जनता को अपने दर्शन से तृप्त करते रहे। ग्यारहवें दिन आगमिक विधान के अनुसार बड़ा भारी याग किया गया। देवगण भी निरन्तर वर्षा करने के बहाने से याग में उपस्थित होते रहे। आश्चर्यमय लीला तो यह देखी कि जम्मू में कभी भी हिमपात होते नहीं देखा, किन्तु ग्यारहवें दिन आधे घंटे के लिए हिमपात हुआ और पंडाल नीचे गिर गया, फिर भी श्रद्धावान् भक्तजन टस से मस नहीं हुए। याग निरन्तर चलता ही रहा। रात के नौ बजे याग की पूर्णाहुति हुई। सभी ने यज्ञशेष ग्रहण किया। बारहवां दिन भी धूमधाम से विधिपूर्वक मनाया गया। आगे शिवरात्रि आई। उस पर्व पर श्री ईश्वर-स्वरूप जी को ओर मुझे श्री देवीजी के ये शब्द कानों में गूंजते रहे–"अब के हम शिवरात्रि पर नहीं होंगे।"

दूसरे दिन आश्रम के कुछ शिष्य श्रीनगर, स्वामीजी महाराज के साथ आ गए। वहां परमगुरु श्री महताब काक जी का वार्षिक यज्ञ करना था। उस उत्सव को गुरुदेव ने बड़े उत्साह से मनाया और यही उनका अन्तिम यज्ञ अपने गुरुदेव के प्रति करना था। यह यज्ञ दो दिनों मे संपूर्ण किया गया। श्री स्वामीजी को बार-बार इस यज्ञ में देवी शारिकाजी की याद आती रही। वे पुनः पुनः उनका नाम लेते रहे मानो उनको आवाहन करते थे। उन्हें अलौकिक भावावेश होता रहा। विशेषकर भगवद्गीता के

ग्यारहवें अध्याय का पाठ करते-करते वे मानो स्वयं अपनी विश्वरूपता का अभिनय सा प्रकट करते रहे। इतना ही नही श्रीगुरुदेव ने गोरखपुरी भगवद्गीता की लगभग दो सौ पुस्तकें आहुति के रूप में, यज्ञ-कुण्ड में अर्पित कर दीं। यज्ञ पूरा हो गया। लोग प्रसाद लेकर अपने अपने घरों को लौट गए।

कुछ दिनों के बाद ही श्री ईश्वर-स्वरूप जी फिर जम्मू गए। देवीजी की पवित्र अस्थियों को वे स्वयं गंगा जी में अर्पण करना चाहते थे। अस्थियों के डिब्बे को अपने बैग में रखकर, बहुत से शिष्यों को साथ लेकर हरद्वार गए। वहां उस डिब्बे को विचित्र ढंग से पुष्पों से सुसज्जित किया। उसे एक सुन्दर सजाई हुई टोकरी में रखवा कर चार युवक शिष्यों को गंगा जी के प्रवाह में खड़ा कर दिया। टोकरी में रखे हुए उस डिब्बे को भलीभांति धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, अर्घ आदि से पूजा करके उन युवकों के हाथों में थमा दिया। आगन्तुक यात्री भी सब के सब उसी रंग में रंग गए। देवी शारिकाजी के जयकारों की ध्वनि चहु दिसि गूंजने लगी। ऐसे वातावरण में श्री स्वामीजी ने उस सुसज्ञित टोकरी को अपने हाथों से गंगा जी में अर्पण कर दिया। इधर गंगा नदी की लहरों से टक्कर खाकर वह टोकरी जब बार-बार किनारे की ओर आने लगी तो स्वामीजी महाराज ने हाथ के संकेत से उस टोकरी को विदा करते हुए कहा—जाओ हम भी शीघ्र आ रहे हैं। इस के बाद ४ मार्च १९९१ को श्री स्वामीजी हरद्वार में ही एक संन्यास आश्रम में गए और वहां देवीजी के निमित्त से एक यज्ञ करवा कर ब्रह्मभोज तथा भंडारा का प्रबन्ध बड़ी शान से करवाया। उस समय उन्होंने भी अपने संन्यासी पन का मानो संकल्प किया। श्री देवीजी के होते हुए उन्हें अपने ब्रह्मचर्य आश्रम का ही अभिमान था। अब उन्हें अपने इस संन्यास आश्रम का अभिमान होने लगा। अतः आगे विधि-विधान के नियमों से उन्होंने अपने आप को मुक्त कर दिया। तभी तो कुछ ही समय के बाद अमेरिका वाले शिष्यों के अतिथि बनकर अमेरिका गए और वहां उनका आचार संन्यासियों की भांति विधि-विधान के बन्धनों से मुक्त ही रहा।

उपसंहार

श्री शारिका देवीजी का यह जीवन-चरित संसार के सभी मानवों के लिए एक आदर्श है। उन्होंने कितनी तपस्या की, कितने मानसिक कष्टों को सहन किया, कलियुग देवता के द्वारा सामने लाये गये कितने विघ्नों का उन्हें सामना करना पड़ा इन बातों से प्रायः सभी शिष्यवर्ग परिचित ही हैं। उनके शिव-स्वरूप गुरुदेव अपने बालकोचित स्वभाव के कारण कितनी बार अन्य लोगों को प्रसन्न करने के लिए उनकी अवहेलना करते रहे। कितनी आश्रम समस्यायें उनके साथ द्रोह करती रहीं। मजबूरन अपने इशबर वाले भवन को बेचकर उन्हें आडम्बर और अशान्ति से घेरे हुए ईश्वर-आश्रम में बीसों वर्ष किस तरह बिताने पड़े। हाथ से छिनी हुई अपूर्व शान्ति का बार-बार स्मरण करते करते उन्हें कितने दशक नए आश्रम में चुपचाप काटने पड़े। इन सभी बातों को या तो वह स्वयं जानती थीं या मैं और या श्रीगुरुदेव। फिर इतने मानसिक आतङ्कों से घिरे हुए जीवन के अनेकों ही दशकों को देवीजी ने परम शान्ति से कैसे निभाया। कष्टों से अन्तः पीड़ित होती हुई भी देवीजी उन्हें कभी भी बाहिर प्रकट नहीं करती रहीं। ऐसे मानसिक आतङ्कों से सदैव घिरी हुई दशकों की जीवनयात्रा में उन्होंने कभी भी अपनी अपार गुरु-भक्ति पर आंच नहीं आने दी। जीवन के अन्तिम दौर तक कैसे वह सदैव गुरु-सेवा में तत्पर रहती रहीं। उन्हें अपने से अधिक चिन्ता गुरुदेव के स्वास्थ्य की रहा करती थी। गुरुदेव की आज्ञा को सदा नत-मस्तक होकर पालन करने के लिए तत्पर रहती थीं। यदि आद्योपान्त उनके पवित्र जीवन पर हम एक विहंगम दृष्टि डालें तो वे साक्षात् सहनशक्ति, सौजन्य और स्नेह की प्रतिमूर्ति थीं। लोगों से कैसा स्नेहपूर्ण व्यवहार उनका था, इससे सभी भक्त परिचित ही हैं। किस तरह से गुरुदेव के कृपा पात्र बने हुए अनधिकारी शिष्यों का भी आदर सत्कार वे सदा करती रहीं। इस प्रकार के मानसिक आतंकों से घिरे हुए जीवन को देवीजी कैसे शान्तभाव से ही निभाती रहीं। इन सभी प्रकार की

ाओं से भरे हुए जीवन का फल फिर उन्हें कितनी उच्चमात्रा में नुकूलता को लेकर के जीवन के अन्तिम दिनों में प्राप्त हुआ और किस ह से अकृत्रिम श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन करते हुए उनके गुरुदेव उनके जीवन को एक आदर्शभूत साधिका के रूप में स्पष्टरूपतया निम्नलिखित मन्त्रों से प्रमाणित किया–

"परभैरवलीनीभूता आत्मशक्तिः श्री शारिका देवी।"
"परभैरवलीनायै पराशक्त्यै श्री शारिका देव्यै नमो नमः।

ये सभी बातें इस जीवन चरित के पढ़ने से स्पष्ट हो जाती हैं।

श्री गुरुदेव के द्वारा किए गए अन्तिम दिनों के व्यवहारों से तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके प्रति, समय समय पर किए गए अपने प्राक्तन व्यवहारों का कितना बोझ उनके अन्तस्तल में पड़ा हुआ था, जिसे उन्होंने इन अपूर्व व्यवहारों के द्वारा एकदम झाड़ दिया और देवीजी के हृदय को भी कई एक दशकों से जमी हुई प्राक्तन अस्थाई अवहेलना के बोझ से मुक्त कर ही दिया। देवीजी का यह जीवन-वृत्तान्त सत्यतः स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। विघ्न-बाधाओं का जो चक्र-व्यूह देवीजी के जीवन में उपस्थित होता रहा, उसकी भविष्य वाणी एक अवधूत सन्त ने दशकों पूर्व की थी।

स्वभाव

सुश्री देवीजी का स्वभाव एकदम अपनापन लिये था। सरलता, नम्रता, अभिमानराहित्य, दृढ़ता, स्वात्माभिमान, धर्म परायणता, निर्भीकता, आदि अनेकों गुणों से युक्त उनका स्वभाव था। गुरुदेव के प्रति अनन्य भक्ति, सौहार्द, कर्त्तव्यपरायणता, अटल विश्वास, सच्ची भक्ति का स्फार उनके प्रति कर्म में प्रस्फुटित होता रहता था। निर्भीक होते हुए भी सदा गुरुदेव से भय-वित्रस्त होती थीं। गुरु भाइयों और गुरु बहनों के प्रति उनकी सहज सहानुभूति होती थी। किसी भी शिष्य को गुरुदेव से संताड़ित होते देख कर देवीजी का करुणामय हृदय पसीज जाता था और वे उन्हें माता की

भान्ति सान्त्वना देकर गुरुमहाराज द्वारा प्रसाद आदि दिलवा कर प्रसन्नचित्त बना देती थीं। एक ओर जहां स्वभाव में गंभीरता थी वहां दूसरी ओर बच्चों की भांति सरलता भी थी। हास्य रस, का संमिश्रण भी उनकी वाणी में यदा-कदा आ ही जाता था। जब कभी गुरुदेव के तनिक रोष से देवीजी का कोमल हृदय-कमल कुछ क्षणों के लिए कुम्हला सा जाता था तो वे कश्मीरी भाषा में कविता लिखकर, अपने मन रूपी कमल को सिंचित किया करती थीं। यह कविता प्रायः अभ्यास-परक ही होती थी। वे इस कविता को सुन्दर स्वर में गुनगुनाया करती थीं। मैं इस ताक में सदा रहती थी और उनकी कविता को लिख लेती थी। इस रूप से उनकी कुछ कवितायें सुरक्षित रहीं। वे सदा सजग तथा विमर्श-परायण ही रहती थीं। रात्रि के तीन बजे जग कर अपने आसन पर बैठ कर तत्क्षणात् तल्लीन हो जाती थीं। छः बजे नहा धोकर गुरु-सेवा में जुट जाती थीं। आश्रम में आजीवन रहकर किसी भी वस्तु या व्यक्ति से लगाव न था। वह समय देखकर कभी अभ्यास में नहीं बैठती थीं। वह कहा करती थीं, भला प्यास के समय कोई घड़ी देख कर जल पीता है। इसी भांति प्रभु से मिलन की पिपासा के लिए समय देखना बेकार है। इस प्यास की निवृत्ति तो अहर्निश अभ्यास की ताक लगाने से ही होती है। सदा अपने विमर्शमय स्वभाव में रहते हुए भी लोगों के सम्मुख अपने इस निजी स्वभाव को जतलाती नहीं थी। गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करके नत-मस्तक ही रहा करती थीं। वे भगवान को जब भी आमन्त्रित करतीं तो 'बेअन्त' तथा सौन्दर्य के भंडार कह कर ही आह्लादित होती थीं। आजीवन गुरुवर्य की छत्र-छाया में रहकर सत्य शब्दों में वह जीवन्मुक्त ही थीं। अपना अपनत्व गुरु चरणों में सौंप कर वह सदा के लिए अमर हो गईं।

जय गुरुदेव

श्री शारिका देवीजी को सौ-सौ बार प्रणाम।

इति शम्

गुरुवार ११ सितम्बर

ई० सन् १९९७, विक्रमी सम्वत् २०५४

ईश्वर-आश्रम, श्रीनगर, कश्मीर